लंका
महराजिन

सत्रह स्केच और कहानियाँ

श्री ओंकार शरद

न्यू लिटरेचर : जीरो रोड : इलाहाबाद

पहली बार

मूल्य : तीन रुपये।

दि इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स लि०,
जीरो रोड
इलाहाबाद
द्वारा
मुद्रित एवं प्रकाशित

आदर्श जोड़ी—
सुरेश और मीरा
को,

—शरद

……कला का काम जीवन को छिपाना नहीं, उसे उभाड़ना है। कला वह, जिसे पाकर जिन्दगी निखर उठे, चमक उठे !………मैं उसे अच्छा रसोइया नहीं समझता, जो इतना मसाला रख दे कि सब्जी का मूल स्वाद ही नष्ट हो जाय।………

—बेनीपुरी
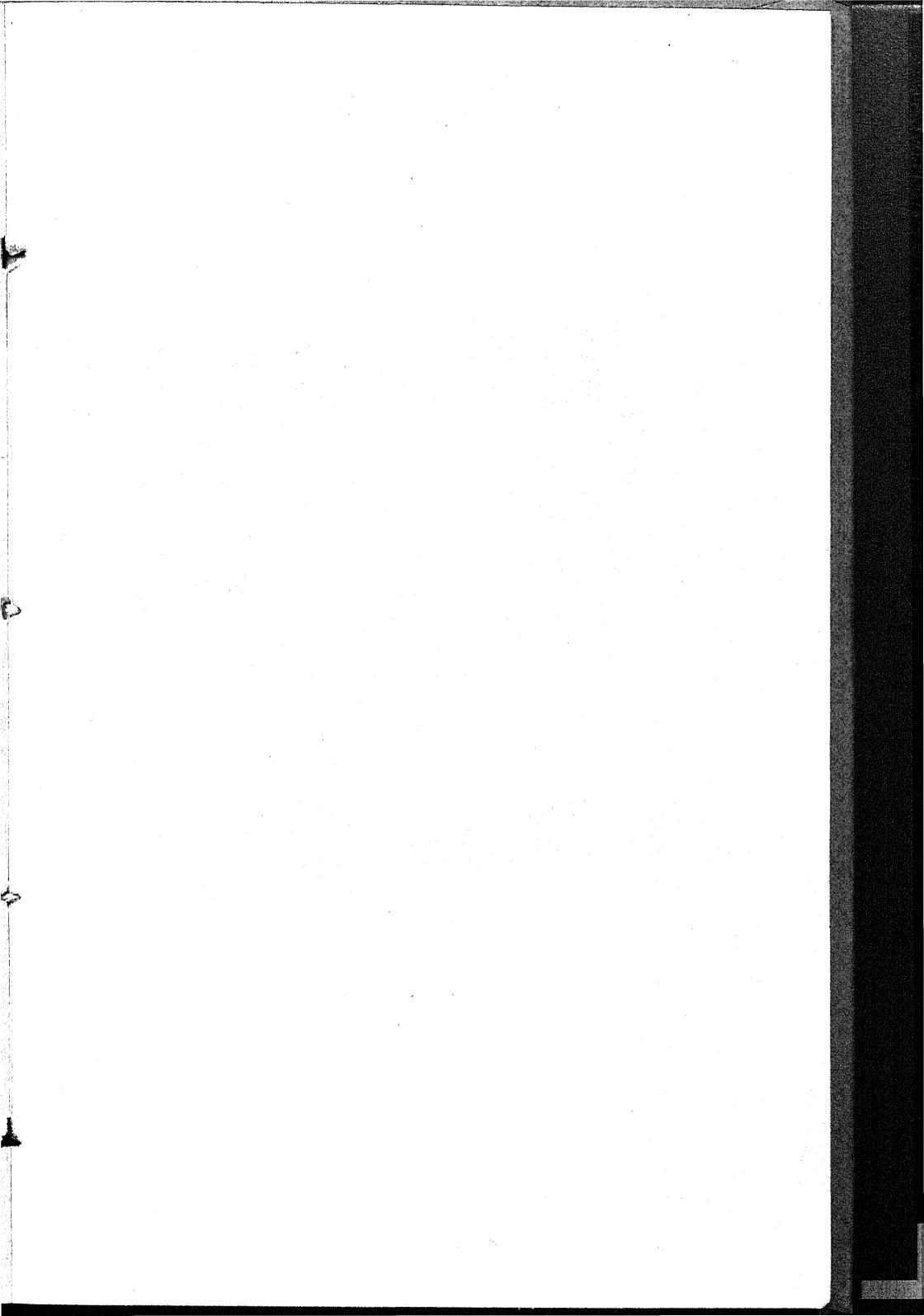
महराजिन

लंका महराजिन—जिन्दाबाद !

हाँ, महराजिन—जिन्दाबाद ! !

आप मेरी इस आवाज को नारा ही समझिए। किसी बड़े नेता, अफसर, पदाधिकारी की जय तो आज सारी दुनिया बोलती है। उनके जिन्दाबाद के नारे लगते हैं। परन्तु, आप तनिक अपना पास-पड़ोस तो देखिए। क्या इन पड़ोसियों, साथियों के व्यक्तित्व में आपको कुछ ऐसा महत्वपूर्ण नहीं मालूम होता जिसकी जय बोली जाय ? मैं तो समझता हूं कि 'जय' के वास्तविक अधिकारी यही हैं। इन्हीं के व्यक्तित्व का असर हम पर पड़ता है। हम सदा ही इनसे घिरे रहते हैं। अतः इनके जीवन की छोटी-बड़ी सभी घटनाओं से हमारा संबंध होता है। इसी अनुभूति से प्रेरित होकर इस 'लंका महराजिन' के काल्पनिक पात्रों के काल्पनिक चित्रण में जमीन-आसमान के कुलाबे मिलाने की परम्परा से हट कर अपने जीवन में घुलेमिले-जीवित पात्रों की ही बहुत सीधी सादी तस्वीरें (कलम से) खींचने की मैंने कोशिश की है।

इस प्रकार की तस्वीरें खींचने की प्रेरणा हमें अपने परिवार से बहुत अधिक घुलीमिली 'लंका महराजिन' से ही मिली। उन्हें मैंने जैसा देखा-सुना-बिल्कुल वैसा ही कागज पर उतार दिया है। अतः अपनी इस साहित्यिक प्रगति के लिए मैं 'लंका महराजिन-जिन्दाबाद' का एक नारा लगाना ही चाहता हूं।

काश, कि महराजिन पढ़ी लिखी होतीं तो अवश्य ही अपना चरित्र, इस प्रकार, इस संग्रह के प्रथम पुष्प के रूप में देख कर खुश होतीं, शायद फूली न समातीं। पर वे बेपढ़ी हैं। निरक्षर भट्टाचार्य की 'नानी' हैं, अतः जब यह संग्रह किसी परिचित द्वारा उन्हें दिखाया जायगा और उनकी कहानी, मेरी जबानी, उन्हीं को सुनाई जायगी—जाने किस रूप में सुनाई जायगी—तो जाने उनपर क्या प्रभाव पड़े ! परन्तु अगर वे खुलकर हमें इस कृत्य के लिए गाली भी दें तो उसे मैं आशीर्वाद रूप में ही ग्रहण करूँगा।

हाँ, अन्य दूसरे पात्र, शाद भाई, केदार, मामा जी, 'गेहूँ' के मुंशी जी, 'रात भर का करफ्यू' के सभी पात्र आदि इसे अगर देख पावें तो गलत न समझें क्योंकि मैंने उन्हें जैसा देखा—पाया, वैसा ही यहाँ उनका चित्रण किया है। उनकी उदारता होगी यदि वे तस्वीर का यही रुख देखें। वे

इतमिनान रखें कि लंका महराजिन की जय और जिन्दाबाद के नारे के पीछे उन सभी की जय है।

हाँ, मेरे जो मित्र और परिचित अपने को इस योग्य समझें कि उन पर भी मेरी लेखनी चलती तो उन्हे भी निराश नहीं होना है बल्कि वे मेरे दूसरे संग्रह का जरा सब्र से इन्तजार करें।

बस, आदाब!

एक बार फिर, महराजिन--जिंदाबाद!

—शरद

क्रम

इत
उन

भी
संग्र

लंका
महराजिन

ननिहाल की बात है। लड़कपन में जब कभी जाता था, महराजिन के विषय में सुनता था। और जैसा रूप महराजिन का तब था वैसा अब भी है। रत्ती भर भी परिवर्तन नहीं। वही गंदी और बिना किनारे की मारकीन की धोती पहने, आधी झुकी हुई चलती तो चारों ओर शंका की दृष्टि बिछाती हुई। किसी को देखकर मुस्कातीं; किसी को देखकर मुँह फुला लेतीं। किस पर खुश हैं, किस पर नाखुश—यह समस्या है। आँखे भीतर को धुसी हुई। चेहरे पर झुर्रियाँ। गर्दन कुछ कुछ हिलती हुई। कुछ तो बुढ़ापे के कारण, कुछ तो संसार के प्रति विराग और घृणा से। नाक में सोने की पुल्ली पहने हुए हैं, जिसे रह-रह कर वह घुमा देती हैं।

घर में उसके कोई नहीं है। और घर ही कहाँ है उसका! लाला बिहारी लाल के मकान के बाहर वाले जीने की कोठरी में वह रहती हैं। केवल आठ आना महीना किराया देना पड़ता है। वह भी बिहारी लाल की पत्नी अक्सर अपने ही पास से पति को दे दिया करती थीं, महराजिन का नाम लेकर। और उस आठ आने के बदले में, महराजिन उनका बहुत-सा काम कर देती थीं, कूटने-पीसने के रूप में। इस व्यापार से दोनों सतुष्ट थीं, बिहारी लाल की पत्नी भी और महराजिन भी। महराजिन को अठन्नी न देनी पड़ती। वह

जोड़तीं, दो महीने में एक रुपया बचता है—पूरे वर्ष भर में छः रुपया। छः रुपया ! दो जोड़े मारकीन की धोतियाँ आती हैं। वर्ष भर के पहनने का भी खर्च निकल आता है। और बिहारी लाल की पत्नी सोचती, वही अधिक लाभ उठा रही हैं। महीने भर का काम यदि कोई मजदूरिन करती तो अवश्य ही पाँच रुपये लेती। लेकिन आठ आना न लेकर यह सौदा अच्छा पटा।

मेरी नानी के यहाँ वह दिन भर में एक चक्कर अवश्य आतीं। नानी से मित्रता थी। दोनों का बुढ़ापा था इसलिए। और दोनों घण्टों बैठकर घुल घुल कर बातें करती थीं। महराजिन पहले तो नानी से सारे मुहल्ले भर की बातें बतातीं, मानों कोई समाचार पत्र पढ़कर सुना रही हों। उन्हें सबों के विषय में मालूम रहता है, हर-घर की बातें। बैजनाथ सोनार, राजा बनिया, सुकुल पण्डित, सुखदेव लाला और ननकी कहारिन, सबके विषय में वह समाचार एकत्रित करके लातीं और नानी को सुनातीं। नानी को भी देश दुनिया की सुनने की बड़ी उत्कण्ठा रहती। लेकिन उनकी दुनिया—दो सौ घरों के इस छोटे से मुहल्ले तक ही सीमित होती। यहीं की राजनीति से उन्हें मतलब है। आगे बढ़ने से कोई सरोकार नहीं। बैजनाथ सोनार की गाय ने आजकल दूध देना बन्द कर दिया है, पर वह इतना कंजूस है कि बच्चों के लिए भी बाजार का दूध नहीं लेता। राजा बनिया, रामऔतार वाला कच्चा मकान खरीदने के फेर में है। उसके मकान का पिछवाड़ा है, बढ़ाना चाहता है। सुकुल पण्डित तीसरे ब्याह के फेर में हैं। सुना है लड़की भी मिल गई है। दुनिया अंधी है, जवान-जवान लड़के हैं, फिर भी लड़की जैसी पत्नी घर में लाये बिना नहीं रहा जाता। कुछ उन्नीस हुआ, बेचारी लड़की को ही दोष लगेगा। सुखदेव लाला की हालत ठीक नहीं। उनकी बीमारी बढ़ती ही जाती है। और क्यों न बढ़े ! पैसा तो निकलता ही नहीं, दवा की नहीं जाती। दीनानाथ वैद्य की दवा अब फायदा भी नहीं कर सकती। और ननकी कहारिन ! उसके लिए महराजिन अधिक व्यथित हैं। बेचारे माधो से उसकी नहीं पटती। सीधा है इससे चुप रहता है इसी से वह सिर पर सवार रहती है। दूसरा कोई होता तो उठते बैठते डंडा मारता। माधो ने चाँदी के कण्ठे गढ़वाए, पर उस पर कुछ असर नहीं। बड़े घरों का मुकाबला करना चाहती है। चौका बरतन भी महीनों से छोड़े बैठी हैं।

और जब महराजिन दुनिया भर की खबर बता जाती तो नानी की बारी

आती। पर वह केवल अपने जिले भर की बातें करतीं, यानी अपने ही घर की। अधिकतर बातें मेरी मामी के विषय की होतीं। दो-चार अच्छी और दस-बीस खराब। पर बातें घुल मिल कर होती, दो सखी जैसी।

और कभी-कभी लड़ाई भी होती, तनातनी के रूप में। पर वह अधिक दिन न चलती। महराजिन का आना बन्द हो जाता। नानी उदास होतीं। एक सूनापन रहता। महराजिन के आने का समय होता तो दरवाजे पर आकर बैठ जातीं। महराजिन आतीं और देखकर आगे बढ़ जातीं। नानी भी मुँह घुमा लेतीं। कहीं शान में बट्टा न लगे। पर मुँह जब सीधा करतीं तो महराजिन की छाया खो चुकी होती। रहा न जाता। उठतीं, चबूतरे के किनारे तक आतीं और झाँक कर गली में मोड़ पर घूमती हुई महराजिन को देखतीं। तभी किसी ओर से कोई अवश्य आता दिखाई पड़ता और झटपट नानी चौखट के भीतर हो लेतीं।

पर यह असहयोग अधिक दिन तक न चल पाता। महराजिन को ही झुकना पड़ता। जिस दिन नानी चौखट पर न होकर घर में रहतीं तो महराजिन भीतर चली आतीं। नानी देखतीं तो खिल उठतीं। और केवल यह पूछकर, "बहू, सब ठीक है" महराजिन अपना संधिपत्र आगे बढ़ा देतीं।

पर यह मित्रता और मेल केवल नानी के ही संग है। मुहल्ले के अन्य हिस्सों में महराजिन का नाम बदनाम है। वह अपने चिड़चिड़ेपन, भयानक आकृति और मन-ही-मन भुनभुना कर श्राप देने के लिए बदनाम थीं। यद्यपि किसी के यहाँ जाने की मनाही नहीं थी। हर के घर का दरवाजा उनके लिए सदा खुला रहता था। और भला किसमें इतनी हिम्मत थी कि उनसे कुछ कहता।

एक दिन महराजिन बड़बड़ाती हुई आईं। द्वार तक आईं और लौट गईं। जैसे कुछ सोच कर आईं और भूल गईं। नानी ने समझा, महराजिन नाराज हैं। लाख पुकारा पर न लौटीं। इधर महराजिन कभी-कभी ऐसी बन जाती हैं, कि समझ में नहीं आता कि उन्हें क्या हो गया है।

छोटी लाइन के गोपीगंज स्टेशन से उत्तर को पक्की सड़क गई है। वह सड़क तो अपने रास्ते गई है, पर एक मील आगे जाकर दक्खिन की ओर जो पगदण्डी फूट गई है उसी पर आगे चल कर महराजिन का गाँव है।

गाँव में कुल पचीस-तीस घर है। चार घर ब्राह्मण, दो बनिया, एक ठाकुर, तीन जुलाहे और पासी-चमारों के कुछ घर हैं। यहीं महराजिन की ससुराल है। जब महराजिन यहाँ ब्याह कर आईं थीं तो बड़ा मान था उनका। महराजिन का स्वभाव बहुत अच्छा और सरल था। ब्याह के पूर्व ही विमाता के कर्कश स्वर और कड़े स्वभाव ने महराजिन को इतना सरल और सहनशील बनाया था। पिता नहीं थे, लड़कपन में ही छोड़ गए थे। विमाता के लिए यह भार हो गई। सुबह शाम कोसती कि मर भी नहीं जाती यह लड़की। विमाता को ब्याह में खर्च होने वाले धन की चिन्ता थी। यदि किसी प्रकार वह बच जाता तो ठीक था। पर किसी के मनाए कभी नहीं कोई मरता। महराजिन बड़ी हुईं। मन न होने पर भी, मन में कुढ़ कर, गाँव वालों में नाक कटने के डर से, विमाता ने बड़े सस्ते में ब्याह रचाया। ससुराल वालों ने बहुत निर्धन और अबला मान कर संतोष किया। कहा, "हमें धन से ब्याह नहीं करना है। लड़की अच्छी मिली, सब मिला।" विमाता मन ही मन खुश थी। सस्ती छूटीं और ऊपर से अभिनय करतीं—कन्यादान का महान सुख पाया। कन्यादान को इस ढंग से निभाया मानों बड़ी कीमती अमानत सकुशल लौटा रही हों।

महराजिन अपनी विमाता का यह अभिनय अच्छी तरह समझ रही थीं। पर उन्हें भी इस बात की खुशी थी कि इनसे पीछा छूटा। आगे देखी जायगी। ससुराल चाहे जैसा भी हो।

और ससुराल में तो फिर बड़ी कदर हुई महराजिन की। सास तो बहुत खुश हुईं। बहू किसी काम में पीछे नहीं रहती। मेहनत करती है। कहना मानती है। कभी जबान नहीं लड़ाती। इतना क्या कम था!

पर सास का सारा प्रेम उस दिन समाप्त हो गया जिस दिन सास की अपूर्व सेवा और शुश्रूषा तथा काफी खर्च कर अच्छी से अच्छी चीजें खिलाने के बाद भी महराजिन ने एक मृत बालिका को जन्म दिया। सास सिर थाम के बैठ गईं। सब सोचा हुआ गलत निकला। सारी मेहनत बेकार गई। और महराजिन को भी दुःख था। पर इसमें उसका कोई दोष नहीं। अपनी जान देकर भी यदि उस मृत बालिका को बालक बना पाती तो अवश्य बनाती और

सास की गोद में दे देती।

सास के प्रेम के घड़े में छिद्र हो गया। दिन प्रति-दिन प्रेम कम होता गया और एक दिन ऐसा आया कि महराजिन को लगा कि इससे अच्छा तो उसके विमाता का ही घर था। रात का समय था। दीपक जल रहा था, एकाएक बुझ गया। सास चीख उठी, "एक गिलास पानी।"

सुनते ही महराजिन दौड़ी। सोचा, पहले पानी दे लूँ तो दीपक जलाऊ। नहीं तो सास कहीं चिल्लाना न शुरू कर दें। यही सोच वह चौके में गई। एक लोटा उठाया। लोटा भरा लगा। पानी जान उसे आँगन में एक कोने में उँडेल कर घड़े से पानी लाई, और भयभीत हृदय से सास के हाथ में थमा दिया। मुँह में लगाते ही सास ने कहा, "यह कौन सा लोटा है, जरा रोशनी तो कर!"

महराजिन का जी धक् धक् करने लगा। समझ में न आया कि क्या बात है। दीपक जलाया। आँगन पार करके सास के पास ला रही थी कि जँगल की बाघिन सी सास ने गरज कर कहा, "हाय, यह कुलच्छिनी ही बदा थी मेरे भाग्य में, अरे सारा दूध फेंक दिया। आँख नहीं है क्या? अँधी है क्या! दूध और पानी भी समझ में नहीं आता।"

महराजिन ने घूम कर देखा, सचमुच बड़ी भूल हुई। अँधेरे में लोटा भर दूध पानी समझ कर बहा दिया उसने। अब क्या होगा।

और सास को एक विषय मिल गया था, वह कहे जा रही थी, "अँधी है। आँखें नहीं हैं। भगवान ने न जाने कैसी आदत बनाई है इस चुडैल की! सदा ही कुछ न कुछ नुकसान ही किया करती है। यों दूध बहाना बड़ा अशुभ होता है! बड़ा अशुभ होता है!"

इस अन्तिम शब्द ने जाने कैसे महराजिन का कलेजा हिला दिया। उसने भी मन ही मन दुहराया, "सचमुच बड़ा अशुभ होता है।"

कुछ महीनों बाद एक दिन गाँव में चर्चा फैली, पड़ोसी गाँवों में महामारी हो गई है। वहां से कोई कुछ सम्बन्ध न रखे। बात जिस प्रकार कही गई थी, महराजिन ने भी सुनी, पर उस पर इसका प्रभाव न पड़ा।

पर उसके गांव पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। पड़ोसी बनवारी सुकुल की पत्नी को एक दिन के बुखार ने समाप्त कर दिया। दूसरे दिन महरा-

जिन के सास को भी कै दस्त शुरू हो गई। यह बड़ी चिन्ता का विषय था। दिन भर लड़का दवादारू के लिए दौड़ता रहा। पड़ोसी गाँव में एक वैद्य थे। अपनी मरियल घोड़ी पर वे आए और दवा देकर चले गए पर रात आने के पूर्व ही जो कै और दस्त शुरू हुई कि महराजिन की सास न बच सकीं। महराजिन के ऊपर दुःख का पहाड़ टूटा। महराजिन के पति ने चिन्ता प्रकट की, "लाश कैसे ले जाई जाय! गांव वाले कहते हैं—महामारी से मरी हैं पण्डिताइन, उनको छूकर हम अपनी जान नहीं देंगे।"

अन्त में गाँव के चौकीदार हरखू माँझी की सहायता से दो और पासियों को दो बोतल का दाम देने का लोभ देकर तैयार किया और महराजिन के पति ने किसी प्रकार अपनी माँ को घाट तक पहुँचा कर अन्तिम क्रिया की।

लौट कर आया तो बहुत थक गया था। एक तो दिन भर दवा-दारू में दौड़ता रहा, फिर माँ को घाट तक ले जाने में सब दुर्दशा हो गई। रात को दो बजे लौट कर आया। थकान से शरीर चूर था। प्यास से बोल सूख रहा था। आते ही दरवाजे पर महराजिन ने दो लोटे पानी दिए और कहा, "अच्छी तरह पाँव धो लो तब भीतर आओ।"

उसने वैसा ही किया, पांव धोकर भीतर आया। खाट पर धम् से गिर पड़ा। महराजिन से पानी मांगा। महराजिन ने कहा, "खाली पेट पानी नहीं पीते, कुछ खाकर पीओ।"

"क्या है खाने को?"

"इस समय क्या है, कहो तो थोड़ा सा गुड़ दूँ।"

"नहीं, गुड़ नहीं खाऊँगा।"

'अच्छा ठहरो", कहकर तेजी से महराजिन कोठे में गई और एक बड़ा कटोरा भर कर दूध लाई, पति को दिया और पीकर वह सन्तुष्ट हुआ।

पर अभाग्य की मारी जो थी यह महराजिन! सुबह से ही पति को भी जोरों की कै और दस्त होना शुरू हुआ। महराजिन की आंखों के आगे अंधकार छा गया। वह न दौड़-धूप ही पाई; न दवा-दारू का ही प्रबन्ध कर सकीं। चिंता में वह सब कुछ भूल गई। उनकी चेतना

जैसे खो गई। दिन चढ़ते-चढ़ते सुहाग लुट गया। गाढ़े मुसीबत में कोई काम नहीं आता। गांव वाले खड़े भी न हुए। सुनकर चुप रह गए। छूत की बीमारी है। रात को माँ को घाट तक ले गया था, वही बीमारी लगी।

महराजिन का भाग्य फूटा। वह चिल्ला-चिलाकर रोई! पर उनके रोने को देखने वाला कोई न थो। स्वयं ही रोईं, स्वयं ही दिल कड़ा किया, आँसू पोंछा और चुप हो गईं।

हरखू माँझी चौकीदार ने इस बार भी सहायता की। महराजिन के पति का वह सच्चा दोस्त था। किसी प्रकार उसने अपने मित्र की लाश को ठिकाने लगाया। महराजिन पर यह दुःख पहाड़-सा टूटा पड़ा। घर में उनकी जानकारी में जो नगद रुपये थे वे सास और पति की बीमार और अन्तिम क्रिया में ख़र्च हो गये। अब वह क्या करतीं। गाँव का जब कोई भी व्यक्ति काम न आया तो महराजिन और भी दुःखी हुईं! हरखू जाति का माँझी था, वह बेचारा कितना क्या करता! उसका छुआ भी महराजिन नहीं खा सकती थीं। पर उसने भी जो सहायता की उतना दूसरा कोई क्या करेगा।

तीन महीने के अन्दर दो गायें, जो महराजिन की कुल पूँजी थीं; बेंच दी गईं। एक सौ बीस रुपये मिले। अस्सी रुपया, पड़ोसी सुकुल ने कहा कि उनका उसके पति पर बाकी है, सो मिलना ही चाहिए नहीं तो सुकुल अदालत जाएँगे।

महराजिन यद्यपि जानती थीं कि सुकुल झूठा हैं, अपना ईमान छोड़ कर कह रहा है। फिर भी कचहरी की देहरी चढ़ना महराजिन कैसे सह सकती थीं। चुपचाप अस्सी रुपये देकर पिण्ड छुड़ाया। गाँव में मन न लगता था। पर जायँ कहाँ। कहीं भी ठिकाना नहीं।

पड़ोसी सुकुल जाने क्यों महराजिन से जलता था। अस्सी रुपये तो मुफ़्त के पा ही गया था। शेर के मुँह में खून लग चुका था। अब उसने महराजिन पर दूसरा प्रहार किया। गाँव वालों में प्रचार करना शुरू किया, "हम तो पड़ोसी हैं। दिन भर देखते हैं सो कहते हैं! महराजिन की चाल अच्छी नहीं है। हलवाहों से सामने होकर बातें करती है। किसी ब्राह्मण के घर यह नहीं होता कि स्त्रियाँ नीच जाति वालों से

बातें करे। और हाँ! चौकीदार रोज तीन-चार-पाँच, चक्कर आता है। भला सूने घर में उसे क्यों जाना चाहिए? मानता हूँ कि लाख उसकी महराज से मित्रता थी पर इसके यह माने नहीं कि सूने घर में दिन भर घुसा रहे।"

बात सबों को ठीक जँची। पर प्रत्यक्ष किसी ने कुछ न कहा। किसी को क्या लेना-देना। जो करेगा अपना परलोक बिगाड़ेगा। यह कोई दिल की स्वच्छता से नहीं कहता था, बल्कि हरखू चौकीदार के डर से। सब जानते हैं कि रात को सेंध डलवा देना उसके बाँएँ हाथ का खेल है। सो कौन छेड़े मक्खी के इस छाते को!

पर सुकुल को इसकी परवाह नहीं। वह तो साफ कहते थे। "पंचायत बैठाऊँगा। सब साफ-साफ खोल के कहूँगा। पंच फैसला कर देंगे। दूध का दूध और पानी का पानी। हुक्का-पानी न बन्द करवा दूं तो क्या कहना।"

महराजिन सब सुनतीं, पर उसकी सुननेवाला कोई न था। उनका कहना था, "और है कौन जो आगे खड़ा होकर हलवाहों से बातें करे। न करूँ तो काम कैसे हो?, सुकुल की नियत में खामी है। सुकुल ने अपना धर्म-ईमान गँवा दिया है।" पर महराजिन की बात किसी की कान तक भी न पहुँची।

और एक दिन गाँव भर में शोर हुआ कि सुकुल ने यहीं ब्राह्मणों की पंचायत बुलाई है। किशुनपुर, माधोगंज, शेखपुरा, नैपुरवा, सभी गाँवों के पन्डित पधारेंगे। महराजिन पर सुकुल द्वारा लगाए गए अभियोगों पर फैसला होगा, एक सप्ताह के बाद।

सुकुल ने बरगद के नीचे घास छिलवाई। गोबर से लिपवा दिया। जड़ पर बने थाले को चिकना कराया। बगल वाले पीपल के नीचे स्थापित महाबीर जी की मूर्ति पर सवा पाव सेंदुर रगड़वाया।

खेत से आती हुई महाराजिन ने यह देखा। और सुना सुकुल कह रहा था "रस्सी जल गई पर ऐंठन न गई। घर और खेत दोनों पर कब्जा करके न दिखाया तो सुकल नहीं।"

अब महराजिन के समझ में सब आ गया कि यह सुकुल क्यों पीछे

पड़ा है। उसे भय था, यह दुष्ट सुकुल पंचायत में जाने क्या-क्या झूठ-सच कहेगा। दिन-रात चिंता में वह घुलने लगीं। दिन भर अँधेरे कमरे में पड़ी कुछ सोचती रहीं। कुछ निश्चय किया पर किसी से बताया नहीं। अँधेरे में ही कोठे में जाकर हाँडी में हाथ डालकर अन्दाज लगाया कि कितना पैसा होगा, संतोष की साँस ली। चेहरे पर चमक आई। दीपक जलाकर खाना बनाया और रात को चूल्हे में लात मार कर उसे गिरा दिया।

रात को स्वस्थ होकर सोईं और सुबह अँधेरे में ही हांडी के पैसे आँचल में बाँधकर एक चादर ओढ़ी और सुकुल के नाम घर खुला छोड़कर चुपचाप चल पड़ीं। पक्की सड़क पकड़ कर गोपीगंज स्टेशन आईं। प्रयाग का टिकट कटाया और माघ नहाने चल पड़ीं।

फिर लौट कर महाराजिन गाँव नहीं गईं। यहाँ उन्हें अधिक शांति मिलती है। मेहनत करती हैं, खाती हैं, पड़ी रहती हैं। इसी प्रकार तीस साल से महाराजिन लोगों के बीच में हैं।

तीस साल से महराजिन ने अपनी कमाई के अलावा शादी-ब्याह में जो प्राप्ति होती है उसे जोड़-जोड़ एक छोटी मोटी रमक इकट्ठी कर ली है। हर वर्ष ही मुहल्ले में दो-तीन शादियाँ होती हैं और प्रत्येक में महराजिन को एक धोती और दस-बारह रुपये की आमदनी होती है। इस प्रकार कई दर्जन धोतियाँ भी इकट्ठी हो गई हैं। पिछले वर्ष महराजिन ने जोड़ा था कि तेरह सौ रुपया हो गया है उसके पास। क्या करेगी इतना रुपया वह, सोचा दान करदू। पर दान नहीं ब्याज पर लगा दूँ तो अच्छा है। बन्सीलाला से चुपचाप बात करके पूरा रुपया उन्हें ही दे दिया। लाला ने समझाया, आठ आने सैकड़ा ब्याज मिलेगा हर महीने। तेरह सौ का साढ़े छः रुपया महीना। वर्ष भर में अठत्तर रुपया। केवल बाइस कम सौ। महराजिन ने मन में सोचा, वह बाइस रुपया साल इकट्ठा कर लेंगी, हर साल सौ रुपया बढ़ेगा। न लगाना, न पाना। बात जँच गई। रुपया बढ़ने लगा। एक वर्ष में सचमुच लाला ने कहा, अब तेरह सौ अठत्तर रुपया हो गया। खुश होकर महराजिन ने चौदह सौ पूरा करने का निश्चय किया।

पर जिसका भाग्य ही फूटा होता है, उसका कोई साथी नहीं। अचानक

बन्सी लाला चल बसे। महराजिन के रुपयों का जिक्र न कर सके। महराजिन ने सुना तो काठ हो गईं। हाय! अब क्या होगा। किसी तरह सत्रहीं तक चुप रहीं। सत्रहीं हो जाने पर लाला की विधवा से अपने कार्यों की चर्चा की। लालाइन ने समझा, महराजिन झाँसा दे रही है। हाथ झाड़ कर खड़ी हो गईं, "मैं क्या जानूँ। लाला जी ने तो कभी भी जिक्र नहीं किया।"

सचमुच महराजिन के पास कोई गवाही नहीं थी। रोती-कलपती रह गईं। क्रोध न सहा गया तो कहा, "बेइमान लाला को सरग में भी ठिकाना न लगेगा। मरते समय सब तो जायदाद सहेजी थी मेहर को। इसका जिकर क्यों नहीं किया?"

नानी ने सुना तो अपनी तीव्र बुद्धि की दुहाई देकर बोलीं, "महराजिन तनिक राय तो ली होती। ऐसे ही रुपया दे दिया। क्या मिला? हमसे पूछतीं तो कोई अच्छे काम का सिलसिला बता देती कि नाम भी होता काम भी होता। पीपल के नीचे ठाकुरद्वारा ही पक्का करा देतीं।

कहकर नानी तो चुप हो गईं, पर महराजिन के हृदय पर इस रुपयों के खोने का कितना प्रभाव पड़ा, यह कोई नहीं जानता। आजकल यह विक्षिप्त सी रहती हैं। किसी के कहे का ख्याल न करके सबका काम देर से करती हैं, जिससे घर के पुरखिनें श्राप देती हैं, "मर क्यों नहीं जाती यह महराजिन। न मरती है न पीछा छोड़ती है।"

सबों को यह समस्या मालूम होती है कि कभी-कभी महराजिन आकर दरवाजे से ही लौट क्यों जाती है? इसके पीछे जो यह कहानी है वह मेरे और नानी के अलावा किसी को नहीं मालूम। बन्सी लाला के हजम किए रुपयों का शोक जब उभड़ता है तो महराजिन इसी प्रकार हो जाती हैं। बड़बड़ाती है, क्या बड़बड़ाती हैं, कुछ समझ में नहीं आता। वह पहले से अधिक कर्कशा भी हो गई हैं।

एक दिन बन्सी लाला के लड़के ने छेड़ा। फिर मत पूछो। जो गालियाँ देनी शुरू की कि चार पुश्त के पुरखों के नाम गिना गईं। मुहल्ले भर के लोग स्तब्ध रह गए। पास से होकर गुजरते हुए रामेश्वर बाबू जो कांग्रेसी हैं, मुस्करा कर बोले, "बिल्कुल राक्षसी है, लंका की!"

और उसी दिन से जब महराजिन निकलतीं तो लड़के खेल छोड़कर

उसके पीछे दौड़ पड़ते ! लंका महराजिन ! सुनकर महराजिन की चिड़-चिड़ाहट सीमा पार कर जाती और वे दो एक ढेले भी चलाती । लड़कों को वह अच्छा लगता और वे लङ्का महराजिन—लङ्का महराजिन—कहकर मुहल्ला सिर पर उठा लेते हैं ।

शरद भाई

शाद भाई को सब से पहले जब हम लोगों ने जाना तो वह सन बयालसी का प्रारम्भ था। शायद मई का महीना। अगस्त आन्दोलन के बादल उमड़ घुमड़ कर सारे भारत के आकाश में छा रहे थे।

तभी अचानक वह हम लोगों के बीच में आ गए। कहां से आए सो किसी को नहीं मालूम। बिलकुल वैसे ही जैसे अंधेरी रात में अकेले चले चलिए और कोई सितारा आकाश से कूद कर आपके सामने खड़ा हो जाए, उसी तरह, सबेरे आंख खोलते ही एक सरदार सामने खड़ा मिला। सरदार बिल्कुल, तेज तरीर। उसने हमें सोचने समझने का भी मौका न दिया और हम उसके पीछे चल पड़े।

एक कांफ्रेंस होने वाली थी। शाद भाई अचानक उसके सभापति चुने गए। मेरे लिए यह सब यों ही होता गया जैसे सब पूर्व निश्चित हो। उसी कॉंफ्ररेंस में हम उनके निकट आए—बहुत निकट। मेरे सारे व्यक्तित्व को उन्होंने अपनी तेज वाणी और काम करने की अजीब लगन से ढंक लिया। बहुत लम्बा शरीर, शायद साढ़े छः फुट का था। यानी उनके कुरते हम सबों के ड्यौढ़े होते थे लम्बाई में। गोरा रंग। पठानों का सा कुछ डरावना और रूखा चेहरा। नया आदमी देखे, उनकी बोली सुने, तो अवश्य ही

घबड़ाए पर हम तो उनके इस बाहरी रूप के अलावा अन्तर से भी परिचित हो चुके थे। हमें मालूम था कि इस बेल जैसे ऊपर से कठोर पुरुष के भीतर बेल का मिठास पूर्ण शीतल गूदा भी था।

उस दिन को तो हम भूल ही नहीं सकते—सन् बयालीस की आग लग चुकी थी। शाद भाई पर पुलिस का वारंट कटा कटा घूम रहा था और वे थे फरार। सितम्बर के पहले हफ़्ते की एक सुबह थी। गर्मी की सुबह। सुबह जब ठंडी हवा चलती हो तो सोना ज्यादा अच्छा लगता था। तभी जब कुछ सोए से, कुछ जागे से, हम बिछावन पर पड़े नींद का मोह नहीं छोड़ पा रहे थे कि सुबह के धुंधलके को चीर कर वह आवाज आई। मेरा नाम! मैं चौंक पड़ा यह तो शाद भाई की आवाज है। मन में धड़कन इतनी तेज हो गई कि मेरे कान भी 'धक् धक्' सुन रहे थे। चुपचाप मैं बाहर आया। शाद भाई खड़े थे—फरार थे न! इसलिए कुछ हिचक भी हमें हो रही थी। पर उनके बदले वेष के कारण उन्हें और कोई पहचान न सका। महीनों की बढ़ी दाढ़ी, जो अब अपने ढग से गोल होने लगी थी, सिरपर पटियाला-साफा और सफेद कमीज पर मद्रासी दो सूती पतलून और पेशावरी चप्पल? मैंने कहा—"शाद...."

बीच में ही उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया और मेरे मुँह का शब्द वहीं रुक गया। मुझे खींचकर वे दूर ले गए। मैं समझ गया। सीधे हम लोग पिछली दीवाल के साए में जा कर बातें करने लगे।

उन्होंने पूछा, "कैसे—सब काम चल रहे हैं!"

मैंने धीरे से कहा, "कैसा क्या, यहां आन्दोलन दब चुका है। जब आप फरार हो गए तो आगे रास्ता कौन बताता। मैं थोड़ा आगे आगे चल रहा था कि मेरे लिए भी वारंट कटा है, सुना है कल ही। सो आज ही मैं यहाँ से चल देना चाहता हूँ।"

"अच्छा, यह अच्छा होगा। यहां की छोड़ो, यहाँ कुछ नहीं हो सकता। यहां के लोग जब कुछ करना ही नहीं चाहते तो हमारे तुम्हारे किए भी क्या होगा! एक बात, जिसके लिए मैं आया हूँ, सुनो!" वे कहे जा रहे थे और मैं मुँह खोले सुन रहा था।

"देखो आज रात को एक घटना घटने वाली है। उसमें मेरा हाथ होगा, पता नहीं मैं बचूं या नहीं, इसलिए तुम एक काम करो" वे कहते गए। मेरे

मन में प्रश्न उठा वह क्या घटना होगी । पर उनसे न पूछ सका । वे आगे बोले, "तुम मेरे साथ एक बार रामपुर गये थे ? याद है न वह मिडिल स्कूल के पास का तम्बोली ? हां, उसके वहां जाकर कहना शेरसिंह ने भेजा है ?"

"शेरसिंह ?" बीच में अपने को यह प्रश्न किए बिना नहीं रोक सका ।

"हाँ, मैं शेरसिंह हूँ—शाद भाई नहीं । तुम भी याद करलो ।" कहकर वे एक बार मुस्कराए । और जैसे मैं सब समझ गया ! और तब अपनी बगल से एक छोटा सा अखबार में लिपटा पुलिन्दा सा उन्होंने मुझे पकड़ा दिया । मैंने चुपचाप ले लिया और उन्होंने आगे कहा, "यह दे देना और उससे कहना कि इसे ठिकाने पर पहुँचा दे ।"

मैं सब समझ गया और वे चलने लगे । मन में तो हुआ कि उन्हें रोक कर कुछ खाने-पीने को भी कहता, पर यह भी न कर सका । मन में जाने क्यों एक चोर सा समा गया था । आगे घूमकर उन्होंने कहा, "अच्छा, लेकिन आज शाम तक इसे देकर लौट आना, भूलना नहीं । फिर देखो अब कहां भेंट होती है ।"

और वे जैसे आए थे वैसे ही चले गए । शाद भाई, शेरसिंह ! मैं मन ही मन रटता रहा । मैं घर गया, चा पी और फौरन साइकिल उठाकर चल पड़ा । रामपुर अगला स्टेशन था । छः मील । चाहता तो रेल से जाता । पर रेल से जाने के लिए स्टेशन जाने की हिम्मत नहीं पड़ी । जब साइकिल निकाली तो मन में अपने आप एक उत्कंठा पैदा हुई, देखूँ तो इसमें है क्या ? मैंने थोड़ा सा खोला कि देखते ही मेरा कलेजा फिर धड़कने लगा । यह बढ़िया जनानी साड़ी ? यह किसके लिए, और इस आफत के समय में ? मैं कुछ भी न सोच पाया । मेरे जान में तो शाद भाई की कोई लड़की परिचित नहीं थी ।

पर होगा कुछ ? अपना मुँह झटक कर मैंने उसे भुला देना चाहा । अपनी पहुँच से दूर होने के कारण यही सब से अच्छा तरीका था ।

दूसरा दिन । आज ही हमने यह जिला छोड़ देने का निश्चय किया था । मेरे सूने में पुलिस घर भी आ चुकी थी कि सुबह उठते ही उठते पता लगा कि दो स्टेशन आगे गाड़ी उलट दी गई है ।

गाड़ी उलट गई ! सुनते ही लगा कि कोई परदा आंखों के सामने उठ गया है। शाद भाई का इशारा इसी ओर तो नहीं था। पर क्या पता? अधिक सोच कर उलझना मैंने उचित न समझा। और उठा, नित्य की तरह और चा पीकर चलने की तैयारी कर ही रहा था कि पता लगा बाहर पुलिस है। चाहता तो निकल सकता था, पर यह भी मुझे ठीक न लगा। सीधे ढंग से मैं उनके साथ चला गया। घर की सभी औरतें—मां, जीजी, भाभी, बुआ सभी एक शादी में पटना गई थीं। इसलिए अधिक शोर गुल नहीं हुआ। घर के नौकर डरी डरी आंखों से देख रहे थे और पिता जी रुआंसे से थे, उसी तरह मुझे लोगों ने पुलिस की लारी पर बैठा दिया।

जेल गए मुझे एक घंटा भी नहीं हुआ था कि देखा शाद भाई चले आ रहे हैं। हाथों में हथकड़ी, पावों में बेड़ी। झनन्-झनन्! यह आवाज उन्हें ही शोभा देती थी। आगे पीछे दर्जनों सिपाही फौज़ी।

और एक बार हम फिर जेलखाने में मिले। वहां मिलते ही उन्होंने पूछा, "क्यों पहुँचा दिया था उसे?"

"हाँ बिल्कुल! पर हाँ शाद भाई, वह साड़ी किसके लिए थी?" मैं आखिर अपने को नहीं रोक सका।

"सो क्या करोगे जानकर? और हां तो तुमने वह खोल लिया था?"

"नहीं, यों ही कागज फट गया था, वह दीख पड़ी थी।" मैंने जान छुड़ाई।

उसके बाद जेलखाने में भी हम अधिक दिन साथ नहीं रह सके। चौथे ही दिन उन्हें कहीं और भेज दिया गया—किसी और जेल में, जहां का पता उस समय हमें नहीं लगा, लेकिन शाद भाई हमसे दूर चले गए।

मैं तो छः महीने बाद ही छूट गया, लेकिन शाद भाई सन ४५ के अन्त में छूटे। हमलोग फिर मिले। अब ४२ की धूम धाम भी नहीं थी न पुलिस के डर से लुकने छिपने की बात। शाद भाई सदा हमारे साथ रहे लेकिन उस साड़ी का रहस्य अभी भी मुझे अक्सर कौतूहल में डाल देता।

४

फिर आया सन ४६ का जमाना। प्रांतीय धारा सभा का चुनाव!

चुनाव आते ही हमारे बीच फिर एक सरगर्मी व्याप गई। बिल्कुल एक सिपाहियों के झुण्ड की तरह कि जो सदा बेकार रहें और फिर लड़ाई के समय—लेफ़्ट-राइट!

पहले तो कौन-कौन प्रांतीय धारा सभा की सदस्यता के लिए खड़ा हो इसका निर्णय होना था। शाद भाई जिले के अकेले मुसलमान कांग्रेसी थे। एक थे और रहमान अली साहब ! पर उनके लिए एम० एल० ए० होने की अधिक चर्चा नहीं थी। क्योंकि शाद भाई अधिक पढ़े लिखे थे और भाषण कला में भी पटु। पर हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि जब हम लोगों ने देखा कि हमारी कल्पना गलत है और जो नाम निश्चित किए गए हैं उनमें मुस्लिम कांग्रेसी सीट के उम्मीदवार रहमान अली ही बनाए गए हैं। कुछ कारण समझ में न आया। पीछे तो पता लगा कि रहमान अली ने कुछ गलत तरीकों से नेताओं पर दबाव डाला था। शाद भाई ने सुना तो लगा कि उनके चेहरे से खून टपक पड़ेगा। क्रोध से वे कांप गए। उसके बाद उन्हों ने क्या किया सो तो नहीं मालूम, पर गांधीजी को एक पत्र अवश्य लिखा था। यह बताया कि यह कितना बड़ा अन्याय था। पर गांधीजी के यहां से शायद कोई उत्तर नहीं आया था, सो उन्होंने एकाएक चुनाव के दिनों में कहीं जाने का निश्चय कर लिया। हम लोगों ने पहले तो बहुत रोका, फिर पूछना चाहा कि कहां जाएंगे। पर उन्होंने कुछ न बताया और हम अन्धकार में ही रहे।

शायद एम० एल० ए० न होने का उन्हें दुःख हुआ था। होना भी स्वाभाविक था। उनके प्रति यह सरासर अन्याय था। उनका हक था जो उन्हें नहीं मिला।

शाद भाई चले गए। पहले तो कुछ खला, फिर अभ्यास से सब कुछ भूल जाता है। हमने भी अनुभव किया कि शाद भाई एम० एल० ए० होंगे। और नहीं हुए तो लगा जैसे किसी की शादी की सगाई होकर छूट गई हैं।

समय अपनी गति से चलता रहा। भारत को आजादी मिली तो लगा समय की गति कुछ तेज हो गई है। दिन जल्दी जल्दी बीते और सब काम आजादी के नाम पर होने लगा। मैं एक अखबार की नौकरी करके इलाहाबाद

आगया था। कभी कभी आज भी हमें शाद भाई की याद आती तो दिल में एक टीस उठती।

अचानक जब गांधीजी की हत्या हुई तो हमारे अखबार में भी कामकाज़ की भीड़ बढ़ गई। हत्या के तेरहवें दिन बापू की अस्थियां प्रयाग आने वाली थीं, प्रवाह के लिए। मैं सुबह अपना प्रेस पास लिए जा पहुँचा। जब अस्थियां संगम में प्रवाहित हो रही थीं तभी मैं जब भारी मन से राष्ट्रपिता का अन्त देख रहा था और सोच रहा था कि आज इसका वर्णन अपने अखबार में कुछ अनोखे ढंग से किया जाय, तभी किसी ने पीछे से कंधे पर हाथ रखा। मैंने चौंक कर जब घूमकर देखा तो हैरान रह गया। शाद भाई को इस तरह देखने की आशा नहीं थी। उसी तरह सफेद पाजामा और कोकटी के कुरते में शाद भाई का लम्बा तगड़ा शरीर हमारे सामने खड़ा था। उनके साथ इस बार एक महिला भी थीं। महिला क्यों—किशोरी। शाद भाई ने कहा, "मैं जानता था कि तुम इलाहाबाद में हो। और यहां तुम अवश्य मिलोगे यह भी जानता था।"

"हाँ, आप कैसे आए? कहाँ हैं आजकल!"

"आजकल कानपुर में हूँ। एक छोटे से 'बिजनेसफर्म' का मैनेजर।" मैं सोच में पड़ गया—क्या यह सच हो सकता है कि शाद भाई मैनेजर हों—फिर उस राष्ट्रीयता का क्या होगा?

तभी उन्होंने उक्त किशोरी का परिचय कराते हुए कहा, "देखो यह हैं रानी! इन्हें तुम भाभी कह सकते हो।"

"भाभी!" मैंने कह ही तो दिया। और शर्मा कर वह कदम भर पीछे हो गईं। उनके सुन्दर चेहरे पर गुलाल पड़ गया। और हम और शाद भाई अट्टाहस करते करते रह गए।

फिर कुछ देर यों ही बीता तो मैंने कहा कि घर चलिए। उन्होंने फौरन हाथ की घड़ी देखकर कहा, "देखो साढ़े चार बज गए हैं। छः वाली गाड़ी से वापस चले जाना है। कुछ सामान भी तो नहीं लाए। पर जल्दी ही इलाहाबाद आऊंगा तब बातें होंगी।"

और एक बार फिर मिल कर भी शाद भाई दूर चले गए।

इस बार ऐसा लगा कि हमारी मित्रता नई हो, इसलिए हम अपने को और अधिक निकट पाने भी लगे।

इस घटना के चार महीने बाद शाद भाई एक शाम अचानक हाथ में एक छोटी सी पेटी लटकाए आ धमके। इस बार देखा उनका चेहरा कुछ उतरा सा था जैसे कोई अप्रिय घटना घटा कर आए हैं। मैंने बहुत कुछ जानना चाहा, पर उन्होंने कुछ न बताया। रात को हम लोगों ने साथ ही खाना खाया। मैं कुछ बातें करना चाहता था कि उन्होंने मना किया, "जाओ सो जाओ। मुझे भी नींद आ रही है।"

सुबह जब नींद खुली तो जाकर उन्हें भी जगाया। हम लोगों ने फौरन नहाया और फिर चा पी। इसके बाद सिगरेट जलाकर अचानक शाद भाई उठे, "देखो, मैं फौरन जबलपुर जाऊंगा।"

"जबलपुर !"

"हां काम है और तुम मेरा यह संदूक संभाल कर रखना। कभी ले लूंगा आकर। इसमें कोई डरने की चीज नहीं है, पर जरूरी तो है ही।"

और सन्दूक को भीतर रखकर उन्हें यों ही बम्बई मेल में बैठाया। स्मृति स्वरूप वह सन्दूक हमारे पास ही रहा।

आज अचानक एक लिफाफा मिला है। नागपुर की मुहर है। शाद भाई का यह पत्र पाकर मैं चक्कर में पड़ गया हूँ। उन्होंने लिखा है कि जबलपुर से वे नागपुर आए और हैदराबाद जाना चाहते थे कि मध्यप्रान्त की सरकार ने उन्हें 'रजाकार' समझकर छः महीने जेल की हवा खिलाई, अब विश्वास होने पर छोड़ा है।

मैं क्या विश्वास करूँ और क्या नहीं, यही सोच रहा हूँ। आज मेरे मन में एक बात आई। जरा वह सन्दूक तो खोलूं जो शाद भाई छोड़ गए हैं। पेटी का ताला। दूसरी भी चाभियाँ लगती थी। मैंने खोल डाला। परन्तु उसमें तो कुछ नहीं। केवल एक जनानी धोती। ऐसा लगा जो कभी और देख चुका हूं। और कुछ चिट्ठियाँ। सभी चिट्ठियाँ पढ़ डालीं। किसी में कुछ नहीं—अनजान व्यक्तियों के पत्र, कुशल क्षेम के। हाँ, धोती की तह में एक नीला पत्र सुरक्षित समझ कर रखा मालूम पड़ा—हाथ कांप उठे, माथे का रक्त खट खट करके बज उठा।

उसी रानी का पत्र था जिनका परिचय शाद भाई ने कराया था। लिखा

था—"मैं समझती थी तुम फिर राजनीति में लौट जाओगे, पर ऐसा लगता है अब संभव नहीं। तुम्हें राजनीति से वियोग हो गया है। पर मैंने तो उसी सन् ४२ वाले शाद से ही शादी की थी, किसी व्यापारी से नहीं इधर मैं सतत परिश्रम करती रही की तुम फिर लौट चलो, पर देखती हूं तुममें परिवर्तन लाना मेरे बस की बात नहीं। इसलिए मैं फिर लौट रही हूं। वहीं जहां सन् ४२ में तुम मिले थे। अब अगर मुझे पाना चाहो तो फिर वहीं आ जाना।

यह धोती तुम्हारी ४२ की भेंट वापस कर रही हूं। जब तुम ही नहीं तो यह क्या?

लेकिन तुम जब भी आओगे फिर उसी रूप में मेरे अपने हो सकोगे—लेकिन याद रखना, वही शाद बनना, ४२ वाले।

—रानी"

अब पहचानते देरी न लगी कि यही वह धोती है जिसे देने मैं साइकिल पर रामपुर गया था।

एक बार मेरे सामने शाद और रानी फिर घूम गए। शाद भाई ने यह क्यों किया, रानी ने यह क्यों किया?

यह समाचार तो हमने हफ़्ते भर पहले ही पत्रों में पढ़ लिया था पर अभी यह जो पत्र आया है रानी का, उससे मैं फिर उलझन में पड़ गया हूं।

रानी ने लिखा है—"तुम उनके मित्र हो। उन्हें किसी तरह वापस भेजो। कानपुर में मैं पता लगा चुकी हूं। वहां वह नहीं है। उनका इस समय आना बहुत जरूरी है। रहमान अली की मृत्यु के बाद मुस्लिम एम० एल० ए० की जगह के लिए उन्हीं का नाम पेश किया गया है। चुनाव की भी बात नहीं, क्योंकि कोई दूसरा उम्मीदवार भी तो नहीं है। वे बिना किसी परेशानी के एम० एल० ए० हो जाएँगे और शायद तभी वे फिर अपनी राजनीति की जगह पर आ सकें।

आशा है आप हम सब पर कृपा कर के उन्हें वापस भेजिएगा। मुझे विश्वास है कि आपको उनका पता होगा।

आपकी—भाभी।"

मैं सब समझता हूं। पर हाथ मल कर रह जाता हूं। रानी को कैसे सूचित करूं कि शाद भाई 'रजाकार' कहे जा चुके हैं, वे अब कांग्रेस के टिकट पर खड़े नहीं हो सकते। दूसरे, उनका पता हमें भी तो नहीं मालूम।

मैं रह रह कर रानी को याद करता हूं। शाद को धिक्कारता हूं। पर कुछ हाथ नहीं आता।

मनुष्य के भीतर आग होती ही है। वह किस रास्ते जाएगी—सो कोई नहीं कह सकता। अगर वह आग आशा के पथ पर लगती तो शाद भाई नेता होते। पर वह निराशा के पथ पर लगी और आज शाद भाई दुनिया के किस कोने में मुँह छिपाए हैं, वही जानें।

केदार तिवारी ब्राह्मण हैं। इन्हें स्वयं तो ऐसा कुछ याद नहीं, पर सुना है कि बाबा की पुश्त तक गांव की जमींदारी इन्हीं के हाथ थी। केवल दो ऊँचे घराने थे—एक इनके बाबा का, दूसरा बाबा के पट्टीदार बलदेव तिवारी, बाबा के चचेरे भाई का। जमींदारी थी तो बाबा के हाथ में, पर बलदेव सदा अपना दावा किए रहते। बाबा न बोलते न कुछ कहते—अपना ही परिवार तो है। एक पेड़ की दो डालें। यदि बलदेव नालायक है तो क्या करें—है तो अपना ही! पर बलदेव को इसका कुछ विचार नहीं—दूसरों के बहकावे में आकर अदालत चढ़ गया और अदालत का अँधेर कि पट्टा बदल गया। बलदेव जो कुछ नहीं था, जमींदार हो गया और बाबा जो सब कुछ थे कुछ नहीं रहे। और वही सीढ़ी यह है। केदार का गांव में कुछ हक नहीं—केवल वाशिंदा हैं और बलदेव का पोता जयश्री गद्दी पर है। अक्सर पंचायत-सभा में केदार कहा करता है—"जयश्री हमारा पितिया (चाचा का परिवार) ही तो है न!" पर जयश्री पर इसका कुछ असर नहीं! न कोई चिन्ता ही। जयश्री अपने बड़प्पन में चूर है और केदार अपनी निर्धनता में ही मस्त है।

पुरखों का खरीदा-बनवाया हुआ यही एक छोटा मकान है। तीन कोठों

का मकान। एक कुआँ है बाहर, जिसकी बांध टूट कर अपने पुराने वैभव पर झींक रही है। बगल में एक फूस की छावनी पड़ी है उसी में केदार की गाय रहती है। मिट्टी की दो नादें गड़ी हैं, और तिवारी! पूरे छः फिट का लम्बा ऊँचा आदमी, दुबला-पतला। देखने से ही अक्खड़ स्वभाव का पता लग जाता है। छोटी-छोटी मूंछें दाढ़ी का कोई नियम नहीं। सिर खाली, एक आधी टाँग की धोती और बगलबन्दी। कन्धे पर लाल चारखाने का अँगोछा, जो इनका बड़ा सहायक है। गर्मी और बरसात का छाता और पंखा। जाड़े में ठंढक दूर करता है और मक्खियां भी उड़ाता है। समय-असमय धोती का भी काम देता है।

ऐसा व्यक्तित्व कि दूर से झलके। घर में कोई नहीं। केवल एक लड़की है, मुन्नी—दस वर्ष की। पत्नी तो बहुत पहले ही मर गई। जब मुन्नी दो वर्ष की ही थी,जीवन की कठिन राह पर वह कर्मठ केदार का साथ नहीं दे सकीं। इसका थोड़ा दुःख है केदार को—पर वह जब अधिक सोचते है तो, झंझटों से दूर पाकर सब्र भी करते है।

गांव में जयश्री तिवारी की धाक है—फिर जमींदार ही ठहरा। उसका ऐलान है कि गांव में कोई गाय न बेचे। गाय घर की लक्ष्मी है। और हिन्दू-धर्म के विरुद्ध है गाय बेचना। हां दान कर दे। जयश्री से इस ऐलान की चर्चा दूसरे आसपास के गांवों में भी है। लोग कहते है—सच्चा ब्राह्मण है।

शाम का समय था। तीन दिन से पानी बरस रहा था। चारों ओर गीला ही गीला है। कीचड़ से चलने में दिक्कत होती है। सो तिवारी घर पर ही है। मुन्नी को भी बुखार आ रहा है। जाने उसे क्या हो गया है कि छः महीने से खाट ही नहीं छोड़ती। बुखार भी हाथ धोकर पीछे पड़ गया है। दो-चार दिन को अच्छी हुई नहीं किफिर खाट पर गिरी। जब से इस बार पानी बरसा है तब से बुखार और भी तेज हो गया है। शायद ठण्ढक के कारण।

केदार बैठे सोच रहे थे, दरवाजे पर। सोचते-सोचते खिजला उठे। गरीबी उन्हीं के अकेले के भाग्य से है शायद। कुछ समझ में ही नहीं आता। हाथ में एक भी पैसा नहीं कि कुछ दवा भी मुन्नी के लिए ला सकें। घर की पिछली दीवाल अवश्य ही बरसात में धोखा देगी। नींव तक जहां

पानी पहुँचा—बैठ जायगी। छाजन खराब हो गई है। पानी भीतर तो प्रवेश कर ही गया है। और यह गाय! यह भी जाने क्यों बची रह गई। बहुत कम होने पर भी चार छः आने रोज की खरी-भूसा आवश्यक है। यह कहां से आए? दूध भी आजकल बन्द है, नहीं तो वही बेचकर कुछ आ जाता था—कम से कम इसका खर्चा तो निकल ही आता था।

केदार बैठे सोच रहे थे, करम को पीट रहे थे। तभी देखा सामने से दो जन चले आ रहे थे। एक तो गांव के अहमद मियां थे—दूसरा गांव का नहीं लगता था। पर उन्हीं का विरादरी का है यह तो चाल-ढाल से ही पता लगता था। पास आकर अहमद खां ने पहले तो सलाम कहा, फिर चौतरे के दूसरे कोने पर बैठ गया; साथ वाला आदमी भी साथ ही बैठा। अहमद खां ने उसके बारे में बताया—आठ मील दूर यह जो अलीपुर है, वहीं का है, उसका भाई लगता है, रिश्ते में। उसे एक गाय चाहिए। खरीदना चाहता है। अहमद खां ने बताया कि उसने सुना था कि केदार पंडित बेचना चाहते हैं इसीलिए यहां लिवा लाया है।

केदार तिवारी को क्रोध आ गया, तुर्क गाय खरीदने आया है। बिगड़ कर बोले, चुप रहो, "हमें गाय नहीं बेचनी है। किस बदमाश ने कहा है!......."

पर अहमद केदार के अक्खड़पने से परिचित था। धैर्य से काम लिया—समझ कर बातें की, और केदार को ठंडा कर लिया कि हाँ बेचनी है, पर अच्छा दाम मिले तब।

"कितना लोगे?" अहमद ने कहा।

"पूरे साठ लूंगा। धेला भी कम नहीं।"

और बात पैंतालीस पर तय पाई।

"पर गांव वालों को पता लगा तो!" केदार ने कहा।

"अरे कुछ कह सुन देना!" अहमद ने कहा।

"खैर, देखी जायगी, तुम गाय ले जाना।"

"अच्छा, तो घंटे भर बाद हम रुपया लेकर आते हैं।"

"हाँ जाओ।" कह कर केदार ने दाहिनी कंधे पर पड़े अँगौछा को पकड़ कर फटकारा और फिर बाए कंधे पर डाल लिया। जाते हुए अहमद और

उसके साथी को गर्म होकर देखा फिर मुँह फेर लिया।

शाम को दिया जले अहमद ने आकर आवाज़ दी। खखार कर केदार बाहर आए—पूछा। "आ गए?"

"हां लो यह रुपये," अहमद ने एक में ही लिपटी चार दस-दस की और पाँच की एक नोट उसने केदार की ओर बढ़ा दिया। अहमद का साथी थोड़ी दूर पर गाय के निकट खड़ा कुछ देख रहा था। केदार ने नोटों को पकड़ लिया। फिर दीपक की धुधली रोशनी में अच्छी तरह निरीक्षण किया—नोटों को कई बार उलट-पुलट कर देखा। फिर मुट्ठी में दाब लिया। दीपक एक ओर रखा। तन कर खड़े हो गए, बाहर आकर कहा, "खोल लो गाय! पर गांव में किसी को पता न लगे। आगे हम सब भुगत लेंगे।"

"तुम बेफिकर रहो, पंडित!" कह कर अहमद अपने साथी की ओर घूमा। साथी आगे बढ़ा। लाठी बगल में दबाये। रस्सी खोलने को बांह सिकोड़ते हुए ललचायी आंखों से गाय को देखा। क्षण भर रुका फिर आगे बढ़कर पगहा पर हाथ लगाया कि नागिन सी फुंफकार उठी गाय!

डरकर वह दो कदम पीछे हट गया। अहमद ने कहा, "डरो मत। मार नहीं सकती, सीधी गाय है।"

और केदार जाने किस ध्यान से व्यस्त गौर से गाय की ओर ताक रहे थे। पसीने से चेहरा तर था। हिम्मत करके पुनः जब अहमद के साथी ने पगहा पकड़ा तो गाय फिर फुंफकार उठी। हिम्मत हारकर वह अलग हो गया।

अहमद ने प्रश्न भरी दृष्टि से केदार की ओर देखा। वह विचलित हो उठे। मन्दगति से गाय की ओर बढ़ चले। पास जाकर अपनी स्वाभाविक आदत से थपथपाया। गाय ने ममता से भर कर हुंकारा। करुणा भरी आंखों से एक बार फिर सिर ऊँचा कर के केदार को ताका—मानो पूछ रही हो, "क्या सचमुच हमें बेच दोगे?"

केदार का गला भर आया। हाथ रुक गया। मुट्ठी में बंधे रुपये काटने लगे एक-दम से घूर कर केदार ने कहा, "हम नहीं देंगे गाय—लो अपने रुपये।" और रुपये अहमद की ओर फेंक दिया।

"फिर हमें क्यों बुलाया था ?"

"हां बुलाया था, अब कहते है चले जाओ। मैं गाय नहीं बेचूंगा। गाय बेचना मना है।" आवेश से कहते हुए केदार ने बाएँ कंधे का अँगौछा दाहिने कंधे पर डाला और चौतरे पर आकर बैठ गए।

"लेकिन पंडित, यह अच्छा नहीं है।"

"हम अपनी चीज़ नहीं बेचते, अच्छे और बुरे का क्या सवाल ?"

केदार ने त्योरियां बदली।

मामला न बढ़े, इसलिए अहमद ने अपने साथी से इशारा किया और दोनों वहां से चल पड़े। अहमद ने रास्ते में कहा, "कोई बात नहीं—केदार का दिमाग खराब है। रास्ते पर लाना होगा।"

कन्धे से अँगौछा उतारा और गले का पसीना सुखाते हुए केदार ने घर में प्रवेश किया। बेटी का शरीर बुखार से आग हो रहा था।

दूसरे दिन सुबह से केदार का भी जी कुछ भारी था। गाय का घर में खाने का कोई प्रबन्ध नहीं, इससे खोल दिया कि कुछ चर ही आवेगी। जी नहीं चलता था सो बेटी की खाट के पास ही लेट रहे।

लगभग तीन बजे गांव के लालू कहार ने आकर बताया कि केदार की गाय को लोग 'कानीहौद' ले गए हैं।

"कौन ले गया ?"

"यह तो नहीं कह सकते !"

"फिर क्या देखा ?"

"बस आपकी गाय।"

"ले जाने दो।" कहकर केदार ने करवट ली।

क्षण भर खड़ा रह कर लालू भाग गया। उसे केदार के व्यवहार से डर लगा। जाने क्या हो गया है। गाय को कहता है, "ले जाने दो। ले जाए। हमारा क्या ?"

और केदार पड़े सोचते रहे। थोड़ी देर बाद मुन्नी ने टोका, "बाबू ! अब क्या होगा ! गाय सचमुच कानीहौद गई क्या !"

"गई होगी, क्या करूँ ?"

"अगर न लाओ तो क्या होगा ?"

"नीलाम हो जायेगी !"

"तो बाबू, जाओ न ले आओ ।"

केदार कुछ न बोले । मुन्नी भी चुप हो रही, और आधे घंटे उसी प्रकार पड़े रह कर पंडित सोचते रहे—पैंतालीस रुपये मिल रहे थे, कल न बेचा । बेच देते तो पाप कटता । अब फिर सवा रुपये लगेंगे छुड़ाने में ।

सवा रुपये इकट्ठा करना केदार के लिए सचमुच एक समस्या थी । पर गाय तो लानी ही पड़ेगी; समस्या का भी हल होगा ही । सो केदार पंडित सोचते रहे—गुनते रहे । करवटें बदल बदल कर ।

एकाएक कुछ निश्चय किया । उठ खड़े हुए । चादर ओढ़ ली । बगल वाले कोठे में गए—झांक कर देखा कि मुन्नी तो नहीं देख रही है । देखा मुन्नी सोई थी । दिल में दृढ़ता आई, चुपचाप आगे बढ़े—पटरे पर रखे फूल के लोटे को उठाया और बगल में दबा लिया, ताकि पता न चले ।

चुपचाप घर से निकले । धीरे से दरवाज़ा भिड़ाया और कंपते पांवों गांव की ओर बढ़ चले । गले के नीचे पसीना बढ़ा तो अँगौछे से सुखा लिया । दबे पांव गांव के बीचोंबीच स्थित रामऔतार बनिया की दुकान तक गए । देखा कोई नहीं था दुकान पर; चढ़ गये ।

"कहो पंडित !" कहकर बनिए ने स्वागत किया ।

बिना कुछ कहे सुने ही पंडित उसकी मचिया पर बैठ गए और धीरे से बगल में दबा लोटा निकाला और सामने रख दिया । बनिया ने एक बार केदार को देखा, मानो सब कुछ समझ गया हो । लोटा उठाया, अजमाया और झट पूछा,

"कितना दे दूँ ?"

"जो समझो ।"

पहले भी कई बार यह लोटा इसी दूकान पर दो रुपये पर रखा जा चुका था । पंडित को आगे कुछ कहने की दरकार न हुई । बनिये ने अपनी सन्दूक से दो रुपये निकाले और पंडित को दे दिया । बिना कुछ कहे-सुने एक ठण्डी सांस लेकर पंडित वहाँ से चले—स्टेशन की ओर जहां कांजी हाउस है ।

और सवा रुपये जुर्माना तथा चार आना चौकीदार को तकवाई देकर डेढ़ रुपये का खून किया और गाय लेकर गांव चले ।

रास्ते में जब वह आम की बगिया से होकर गुजर रहे थे तो देखा कि आगे के पोखर की मेड़ पर वही दोनों बैठे है—अहमद और उनका साथी। देखते ही उन्हें सब समझ में आ गया। अवश्य ही इन्ही लोगों की बदमाशी होगी। मन भीतर ही भीतर क्रुद्ध उठा।

तभी इन्हें आता जान कर वे दोनों आए और पास आकर अहमद ने पूछा,

"कहो पंडित, कैसे इधर से ?"

"जहन्नुम में गया था।"

"नाराज क्यों होते हो ?"

पंडित चुप ही रहे।

अहमद ने फिर पूछा, "क्यों पंडित ? रोज फजीहत उठाते हो, कहता हूँ बेच डालो। अकेले दम तुम भला क्या-क्या करो ? और फिर गांव वाले भी तो सभी बदमाश है, जो यह भी नहीं देखते कि किसके जानवर हैं।"

अहमद ने सहानुभूति का अभिनय किया था। पर केदार के दुःखी हृदय के एक कोने में कुछ असर हुआ। अहमद पर आया क्रोध खो गया। क्षण भर सोचा। कहा, "क्या सचमुच ले जाना चाहते हो ?"

"हां, पंडित !"

"तो अभी ले जाओ। लाओ साठ रुपये।"

"साठ रुपये ?"

"हां पूरे साठ !"

"अच्छा सही—पर एक घंटे बाद।" केदार सोच में पड़ गये, "अभी ले जाए तो ठीक है। गांव में कह दूगा, जाने कहां है—कानीहौद में नही मिली पर इसका भी क्या विश्वास, अगर एक घंटे में न दे तो ! फिर घर जाने पर तो सब जान जायेंगे कि गाय आ गई।" सोच समझ कर थोड़ी देर के बाद उन्होंने कहा, "अच्छा, रात बारह-एक के बीच आना और सीधे ले जाना। गांव में कोई जानने न पावे।"

"हां,हां, तिवारी यही होगा।" कह कर अहमद ने विजय की सांस ली और अपने रास्ते गया।

भारी मन से कुछ बहुत गंभीरता से सोचते हुए केदार घर आये तो

अँधेरा हो चुका था। सारे गांव पर एक सन्नाटा छा गया था, मानो कोई पाप हो। गाय के नांद के पास झींगुर चिल्ला रहे थे। वहीं गाय को बांध कर केदार भीतर गए। अभी दीपक भी नहीं जला था। कौन जलाता! मुन्नी बीमार थी। ताख पर से दियासलाई उठा कर दीपक जलाया और मुन्नी के पास आए। बुखार आज तेज था। उसके माथे पर हाथ रखा। अंगार हो रहा था। केदार ने मन में निश्चय किया कि कल वैद्य को दिखावेंगे। यदि अच्छी न हुई तो अस्पताल के डाक्टर को। रुपया तो रात को अहमद देगा ही। तभी मुन्नी ने पूछा—

"गाय आ गई? कौन ले गया था!"

"हां आ तो गई....!" सहसा कुछ सूझ गया और केदार चुप हो गए।

"क्या हुआ बाबू!" मुन्नी ने कुछ चिन्ता में पूछा।

"कुछ नहीं—। जाने उसे क्या हो गया है। लगता है कोई बीमारी है। कानीहौद में बहुत सी जानवरों को छूत की बीमारियां रहती है?"

"अब क्या होगा।"

"होगा क्या! अगर रात भर जी गई तो सबेरे किसी अहीर को बुलवा लेंगे।"

"हाँ बहुत बुरी दशा है।" मुन्नी सुनकर सन्न रह गई। कहते कहते केदार के चेहरे का पसीना बहकर कन्धे तक आया। सब को अंगौछे की एक ही रगड़ में साफ करके शान्ति का अनुभव किया।

क्षण भर की शान्ति के बाद मुन्नी से वैद्य जी के यहाँ जाने का बहाना करके बाहर आए सीधे हलकानी चमार के यहां पहुँचे। उसने देखा केदार तिवारी स्वयं आए हैं। सक्षात् देवता आए। धन्य हो गया। खुशी से फूल गया। कबूतर बाहर आया। प्रसन्नता में सब भूल गया था। जमीन चूमकर दंडवत् किया। केदार पग भर पीछे हट गए थे। चिल्ला कर कहा, "क्या छू लेगा?"

चमार के घर ब्राह्मण आए थे। हलकानी तो खुश था पर केदार मन ही मन कांप रहे थे। कहीं कोई गांव वाला न देख ले।

हलकानी ने पूछा, "क्या हुक्म सरकार!"

"कुछ नहीं, गाय दूसरे घर जा रही है," बड़े धीरे शब्दों में वह कह रहे थे। रात की बात थी। "समझ गया। सबेरे गांव भर में शोर कर देना कि

केदार की गाय मर गई, रात को ही मैं उठा लाया हूँ। कोई लाश देखने थोड़े ही आएगा !"

हलकानी ने देखा, समझा। ब्राह्मण आज दांव में आया है। कहा, "अच्छा महाराज ! आप निश्चिन्त रहिए।"

"और किसी को पता लग गया तो फिर जान लो। तुम्हारी खैर नहीं। आ जाना रात को एक के बाद। पांच रुपये दूंगा।"

"सरकार, सारे गांव की आंखों में धूल झोंकना है। इतना कम है।"

"अच्छा, तो क्या लेगा ?"

"पूरा कर दो महाराज !"

"अच्छा पूरा दस ही सही। और हाँ, कोई न जाने कि मैं यहाँ आया था।"

"कोई नहीं, कोई नहीं।" हलकानी ने आश्वासन दिया।

केदार निश्चिन्त हो कर घर लौटे। पर रात सो न पाए। बारह के बाद अहमद आया। सब काम चुपचाप हुआ। साठ से छः नोट, दस-दस वाले मुट्ठी में छुपा लिये और गाय खोल दी गई।

घंटे भर बाद हलकानी आया। दस के बंधे नोट पर अपना भाग्य सराहा जब सब चले गए तो निश्चिंत हो गए केदार।

सबेरा हुआ। गांठ में पचास रुपये थे। खुशी थी। पर साथ ही चिन्ता भी थी कि गांव वाले जाने विश्वास करेंगे या नहीं, गाय की मृत्यु !

सबेरे से ही गाँव भर में घूमे। मुँह को लटका कर दुःखी बनाया। जिनसे कभी बात भी नहीं करते थे उसे भी रोक कर गाय की मृत्यु की बात बताई। और जब तक ये घर लौटे गांव भर में चर्चा होने लगी। जयश्री तिवारी जमींदार ने भी सुना। केदार की नस नस से वे परिचित थे। समझ गए कुछ काला है। भला रात में गाय मरी और चमार भी ले गया, किसी को पता भी न चला ! दिन भर यही कानाफूसी होती रही। अवश्य ही केदार ने कुछ गोलमाल किया है। बात तो सबों के दिलों जमती थी। पर प्रत्यक्ष में बोलने की शक्ति किसी में भी नहीं थी। केदार से झगड़ा मोल लेना आसान नहीं था। पर शाम को जब जयश्री तिवारी के दरवाजे पर गांव के बड़े बूढ़ों का जमाव हुआ तो आप ही आप यह चर्चा होने लगी। थोड़ी बहस के

बाद यह सबों के दिल में निश्चय हो गया कि केदार की गाय मरी नहीं है और चाहे जो कुछ हो।

केदार बुलाए गए। अदालत की पेशी थी।

सबों से अलग एक ऊँचे पत्थर पर केदार बैठे। और सबों की ओर देखकर उत्तर दिया,

"गाय रात को मरी थी। रात को ही चमार ले गया।"

"सबूत?"

"हलकानी से पूछो, वही ले गया है।"

"हलकानी चमार है, नीच जाति का है। तुमने रुपये देकर पढ़ा-सिखा दिया होगा।"

"नहीं, मैंने ऐसा नहीं किया।"

"सुना गया है कि तुम्हारी गाय अलीपुर के पास देखी गई है, एक तुर्क के साथ।"

"कोई दूसरी होगी।" केदार कहे जा रहे थे।

एक ब्राह्मण युवक, जो बड़े उतावले हो रहे थे, कुछ कहने को आगे बढ़े, पर उन्हें जयश्री ने रोक दिया। क्षण भर शान्ति रही। सभी गौर से केदार को निहार रहे थे। और केदार के चेहर का रंग प्रतिपल बदल रहा था। अपने वचनों में तो वह दृढ़ बनने की कोशिश कर ही रहे थे। पर लगता था कि उनकी आत्मा उन्हें कोस रही थी।

चेहरे पर पसीना आता जाता था और वह उसे अँगौछे से सुखाते जाते थे।

जयश्री तिवारी ने कहा, "केदार! काम तो तुमने बहुत बुरा किया है। तुम्हें तो गांव में रहना न चाहिए, पर यदि तुम प्रायश्चित्त कर लो तो गांव वाले क्षमा कर देंगे।"

"प्रायश्चित्त काहे का?"

"वह तुम भी जानते हो और हम सब भी जानते है।"

इसके बाद केदार के मुँह से कुछ बोल न निकला। चुपचाप रहे।

"जाओ केदार, वंश का भी कुछ विचार करो। नाम डुबाने से कुछ नहीं मिलता। जाओ काशी हो आओ।" जयश्री तिवारी ने अपना बड़प्पन दिखाते हुए कहा; और बैठे लोगों में किसी की कुछ हिम्मत न हुई।

केदार सुनते रहे, कुढ़ते रहे। मन में आया कि ऐसी डाट बतावें कि बच्चू को याद आ जाय। चले है धर्म और वंश बताने! पर चोर का दिल हमेशा कांपता ही रहता है।

थोड़ी देर बैठकर वे उठे और एक ओर चल पड़े। जैसे ही वह हटे कि बैठे लोगों में फिर एक सनसनाहट फैल गई। कानाफूसी होने लगी।

घर आए तो केदार तिवारी ने मानो सब कुछ निश्चय कर लिया था। अन्दर पांव रखा—मुन्नी कराह रही थी। दिल हिल गया! पास जाकर माथा टटोला, बुखार बहुत तेज था। अब क्या होगा! पचास रुपये थे गाय वाले। पर वह खर्च नहीं करेंगे। जो निश्चय किया है वही ठीक है। बैठे ध्यान में व्यस्त मुन्नी का सिर दबाते रहे!

एकाएक मुन्नी को याद आया, कहा,

"बाबू, आज गाय नहीं है क्या?"

क्या जवाब दें केदार। दिल जोरों से धड़कने लगा। पसीना फिर हो आया। धैर्य से बोले,

"जाने कहाँ चली गई। मालूम होता है गांव वालों ने कहीं कर।दिया है।"

"ये गाव के लोग बड़े बदमाश हैं।"

"हां बेटी, इसी से तो सोचता हूं। चल, गांव छोड़ दें।शहर व चलें।हीं कहीं नौकरी कर लेंगे।"

"काहे की नौकरी?"

"शहर में सेठों के यहाँ खाना बनाने की। वहीं रहेंगे। ठीक रहेगा।"

मुन्नी कुछ न बोली, मानो ध्यान से सोचना चाहती थी। केदार ने समझा मुन्नी की भी राय है। विचार को बल मिला।

और रात ही रात सब ठीक किया। निश्चय किया यहां की कोई चीज़ न ले जावेंगे। केवल मुन्नी का बिछावन भर, बस।

और चार बजे सबेरे जब सारा गांव सो ही रहा था, बिना किसी को सूचित किए ही केदार चल पड़े। कन्धे पर मुन्नी को लिया। पीठ पर बिछावन और बगल में लाठी। मुन्नी ने कहा, "लोटा तो ले ही लो।"

"नहीं इस घर की कोई चीज नहीं लेंगे।"

कौन बतावे मुन्नी से कि लोटा बनिए के यहां है।

चोरों की तरह केदार गांव से बाहर चले गए। दिल की धड़कन और पावों की चाल दोनों तेज। बढ़े जा रहे थे, ज़िन्दगी की सफर में धीरे चलना ठीक नहीं।

पर उन्हें यह पता नहीं था कि गांव छोड़-कर उन्होंने सचमुच दुःखों से पीछा नहीं छुड़ा लिया है। उनके दिल में दृढ़ता तो बढ़ ही रही थी, पर मुन्नीके बुखार का उन्हें पता नही था। मुन्नी चेतनाहीन कन्धे पर टंगी चली जा रही थी।

शहर जब केवल चार मील रह गया तो एक इमली के नीचे कुएँ के चौतरे पर केदार ने मुन्नी को उतारा। सोचा—दम भर सांस ले लें, सुस्ता लें। पर यह क्या! मुन्नी की दशा बहुत खराब थी—हाथ पांव ठण्डे हो रहे थे। आंखे बन्द थी। केदार ने देखा तो बौखला गए। तो क्या मुन्नी भी दगा देगी?

थोड़ी दूर पर एक झोपड़ी थी। वहाँ पर गए--रस्सी और डोर मांगा। पता लगा जाति का जाट है। क्षण भर को सोचा—ब्राह्मण भला जाट के बर्तन का पानी पिए! पर समय बड़ा बालवान है। चुपचाप आए और पानी भर कर मुन्नी को पिलाया।

गले मे पानी पहुँचा तो मुन्नी ने आंख खोली। एक बार चारों ओर देखा। फटी-फटी आंखों से केदार को भी निहारा तो उनका कलेजा फटने लगा। बड़े कष्ट से मुन्नी ने पूछा, "अब कितनी दूर है बाबू?"

"बस आ गए बेटी।"

पर बेटी को शहर देखना बदा नहीं था। आधे घंटे तक जीवन और मृत्यु के बीच झूल-कर उसने संसार से छुट्टी ले ली।

केदार ने हाय छोड़ी, "मरना भी था तो यहां जंगल में! घर भी छूटा और बेटी भी छूटी!" कहते कहते केदार की आंखों से आंसू बहे, पर उन्हें पसीने से अधिक महत्व न दे अँगौछे से सुखा दिया।

उस समय उस जाट ने बड़ी मदद की। थोड़ी दूर जंगल के बीच में जाकर एक गज भर की भूमि खोद कर अपने ही हाथों केदार ने मुन्नी को उसके बिछौने समेत उसमें लिटा दिया। घर छोड़कर उन्हें यही देखना था सो देख रहे थे।

और बेटी को गाड़ कर जब वह लौटे तो गाय की याद आई। सचमुच गाय बेचना पाप है और उसी पाप का यह फल मिला!

पर वह अब निश्चिन्त हो गए। दाहिने कंधे से अँगौछा उतारा और एक बार मुँह पोंछ कर गालों पर बने आंसू के निशान मिटाए और बाए कंधे पर डाल लिया। रोना बेकार था। गांव काम न आया। चार मील शहर है। दूर नहीं—शायद वहीं कुछ हो। केदार उसी ओर चल पड़े।

एक रास्ता

निरंजन जानता है कि जो कुछ वह सोच रहा है वह बात का केवल एक ही पहलू है। अस्सी रुपये महीने की क्लर्की कर के भी भला आज कोई पेट चला पाया है? फिर निरंजन जैसा आदमी, जब कि उसका सम्बन्ध एक क्रान्तिकारी पार्टी से है, जिसके लिए हर महीने दस रुपये चन्दा देना पड़ता है? पार्टी का नियम है कि प्रत्येक सदस्य अपनी आमदनी का आठवां भाग पार्टी को दे।

ऊपर से सदा ही तो कोई न कोई पार्टी का कामरेड घर आ कर ठहरा रहता है। फिर जो मेहमान बनकर आये उसके लिए सुबह का नाश्ता चाहिये, चाय चाहिये, खाना चाहिये और नहाने धोने के लिए तेल और साबुन चाहिए, सोने के लिए खाट और धुली चादर। इसका प्रबन्ध वह कैसे करे, जब कि बचे सत्तर रुपयों में ही उसे पूरी गृहस्थी चलानी है! घर में उसकी पत्नी रेखा, सात वर्ष की लड़की और गोद में मुन्ना है।

लेकिन चलाना तो पड़ेगा ही। वह क्रान्तिकारी पार्टी का सदस्य है। इन जिम्मेदारियों से मुंह तो वह मोड़ नहीं सकता। यह बुजदिली होगी। पार्टी में इतने दिन रह कर उसने क्रान्ति करना सीखा है। संसार में वह क्रान्ति करना चाहता है, पर क्या अपने घर में ही उसकी क्रान्ति फेल हो

जायगी ? पर वह कान्ति भी क्या करे ? तनख्वाह तो बढ़ नहीं सकती। घर का खर्च भी घट नहीं सकता। और पत्नी को भी वह क्यों दोष दे! बेचारी कितने कष्ट से तो काम चलाती है।

आज ही की तो बात है। आफिस से सीधा वह एक मीटिंग में चला गया। वहां उसे देर हो गई। रात को घर पहुँचा तो साढ़े दस बज चुके थे। चाहता तो वह मीटिंग के बीच में ही उठकर चला आता। काम की अधिक बात नहीं हो रही थी। किन्तु वह चाह कर भी ऐसा नहीं कर सका। एक तो यह पार्टी के शिष्टाचार के विरुद्ध है, दूसरे ऐसे कामों का नए सदस्यों पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता।

जब वह घर पहुँचा तो शायद रेखा सो चुकी थी। पर निरंजन के एक ही बार के पुकारने में वह जाग गई! उठकर आई, मुन्ना रोने लगा। रेखा ने दरवाजा खोला और निरंजन भीतर गया। "मुन्ना क्यों रो रहा है ?" आगे बढ़ते हुए निरंजन ने प्रश्न किया। वह रेखा को चुप रखना चाहता था, नहीं तो अगर उसने बड़बड़ाना शुरू किया तो दो-तीन घण्टे का मतलब हो जायगा।

रेखा ने फिर दरवाजा भीतर से बन्द किया और निरंजन के प्रश्न पर मन ही मन क्रुद्ध कर बोली, "उसकी आँख ज्यादा गड़ रही है। आज लोशन भी तो नहीं लगा है। तुम्हें अपनी मीटिंग और पार्टी से जब फुर्सत मिले तब न कुछ हो ? तुम्हें क्या, तुम्हें तो—।" निरंजन ने बीच में टोका। उसने देखा कि यह तो लेक्चर शुरू हो गया। बात काट कर झूठ बोला, बहाना बताया, "अरे आज दावत में चला गया था। जरा भी देर हुई कि तुम्हें मीटिंग का ही शक होने लगता है।"

"तो क्या आज खाना नहीं खाओगे ?"

"कहा तो कि दावत से आ रहा हूं।" अकड़ में निरंजन कह तो गया पर वह जानता था कि इस दावत के अर्थ हैं रात भर भूखे रहना।

रेखा ने अधिक कुछ नहीं कहा। जाकर मुन्ना को चुप कराने लगी। सात दिन से मुन्ना की आँख उठ आई थी। आज निरंजन उसे डाक्टर के यहाँ ले जाकर लोशन नहीं लगवा सका इससे बड़ा दर्द हो रहा था। रेखा ने किसी प्रकार लेट कर उसे कलेजे से लगा कर सुलाया। मां की छाती में मुंह छिपा कर बालक सब कष्ट भूल गया।

निरंजन ने कपड़े बदले और आकर खाट पर लेट रहा। वह किसी तरह यही चाह रहा था कि वह भी सो जाये। और रेखा को भी नींद आ जाए। कम से कम रात तो कटेगी शान्ति से। सुबह फिर देखा जायगा। और उधर रेखा का जी मथा जा रहा था। मन ही मन आज शाम से ही उसने जो भी कड़ुवाहट बटोर रखी थी उसके व्यय का केवल एक ही रास्ता था। अपने मन का रोष निरंजन को डांटकर व गाली देकर ही निकाल सकती थी। वह चाहती थी कि निरंजन कुछ बोले और व अपनी शुरू करे।

अपने अपने दांव-पेंच और साथ ही अकड़ में आध घण्टा बीत गया। निरंजन को नींद नहीं आई फिर भी वह पूरी तरह आँखें मीचे सोने का बहाना करके अंधकार में ही अपने आप को पकड़ने की कोशिश कर रहा था। रेखा ने देखा कि वह तो मौन है इस लिए खुद ही शुरू किया।

"अरे, सुना आज चिट्ठी आई है?"

सुनते ही निरंजन को लगा कि बंद आंखों के गुप्प अंधेरे में कोई बम फूट गया है। उसने टाल जाना चाहा। बोला नहीं, मानो कुछ भी नहीं हुआ। परन्तु रेखा उसके नस-नस से परिचित थी। अपना हाथ बढ़ा कर निरंजन को झिझकोर दिया, "सुनो, नींद आगई न?" घर आये बस नींद, नींद, अभी मीटिंग में चाहे चिल्ला चिल्ला कर गला फाड़ डालते।"

निरजन को यह सब सुनना ही पड़ा। सीधी करवट बदल कर उसने कहा, 'क्या हुआ?"

"होगा क्या, भइआ की चिट्ठी आई है। उनके बच्चे का अगले इतवार को कर्णछेदन है, परसों आ रहे हैं लिवाने!"

"हां हां, चली जाना।" निरंजन ने कहा। लेकिन रेखा उसकी मनोदशा भांप न ले इससे शब्दों को तौल तौल कर बोला, "अच्छा है तुम्हारा स्वास्थ भी इधर गिर गया है। महीना भर रह लोगी तो ठीक हो जायगा और मन भी बदल जायगा।"

"मन तो क्या बदलेगा, तुम्हें आजादी जरूर रहेगी।"

"तुम तो यही समझोगी।

"खैर, मेरे समझने की तुम्हें चिन्ता नहीं करनी है। जरा यह तो बताओ कि सब सामान ले आए?"

"कौन सामान?" जानकर भी निरंजन चौंका।

"कौन सामान !" आँखें फाड़ कर कहा रेखा ने, "भूल गए, दो गज पापलीन कहा था, मुन्ना के पास कमीज नहीं है। बिट्टी की किताबों के लिए कहा था, स्कूल खुले सात दिन हो गए। उसकी गुरू जी रोज डाटती हैं उसे। और अगर तुम्हारी इच्छा हो तो एक चप्पल हमारे लिए भी ला दो। न हो सके तो कोई बात नहीं ! बस, परसों भइया के साथ जाना है इससे कहा है।"

"हां हां, सब कल लावेंगे। कल आफिस जाते समय याद दिला देना !" बड़ी सरलता से निरंजन ने टाला।

"याद तो रोज दिलाती हूँ, आज भी तो दिलाई थी।" चिढ़ाकर रेखा ने कहा।

"अच्छा कल जरा एक पुर्जी में टांक कर दे देना तो याद रहेगी।"

रेखा ने सुना। उसका मन मसोसकर रह गया। क्या कहती बेचारी ?

"अच्छा कल यह भी करूंगी !" एक लम्बी सांस के साथ यह कह कर रेखा फिर अपने खाट पर सिमट रही। वह इतनी जोर से लेठी थी कि उसका सिर तकिये में धुस गया और आखें बन्द करके वह उदास पड़ी रही।

कुछ क्षण जब शान्ति रही तो एक बार निरंजन ने चुपके से सिर उठाकर देखा। देख कर उसे अपने आप पर बड़ी ग्लानि आई। रेखा आंखें बन्द किए बिलकुल चुप लेटी थी। और उसकी आंखों की कोरों से बूंद बूंद आंसू निकल कर गालों पर बहता हुआ तकिये में सोख रहा था। मन में किसी ने कहा, "रेखा के मन में दुःख हुआ है, वह रो रही है निरंजन ? तुम्हें धिक्कार है।"

सचमुच निरंजन को धिक्कार है। वह कैसा पति है जो सदा ही पत्नी को रुलाता रहता है। कभी भी कोई सुख नहीं दे पाता। उसे पति बनने का, दो बच्चों के बाप कहलाने का कोई हक नहीं है, यदि वह दो बच्चों और पत्नी को खाने-कपड़े से भी सुखी नहीं रख सकता। निरंजन ने सिर फिर खाट से लगा दिया और सोचने लगा कि यह कितना बुरा है कि वह इस नारी की इस प्रकार हत्या करे। नहीं, नहीं, वह उसे सुखी बनाएगा। यह नौकरी छोड़कर दूसरी करेगा, जहाँ अधिक रुपये मिल सकें। पर पार्टी कहां जाएगी ? क्या निरंजन पार्टी के साथ चलकर यह सब कुछ कर सकेगा ? यहां आकर तो वह सदा अटकता है। यही वह स्थल है जहाँ आकर उसको

विचारधारा में एक विराम लग जाया करता है।

लेकिन आज इस विराम को काटना होगा, तोड़ना होगा। विराम के आगे भी कुछ है। निदान निरंजन ने सोचा, एक ही रास्ता चुनना होगा। चाहे पत्नी और बच्चे, चाहे पार्टी! पार्टी में रह कर वह पत्नी और बच्चों का नहीं बन पावेगा और पत्नी और बच्चों का रह कर वह पार्टी का सेवक नहीं रह पावेगा!

अच्छा तो वह इसका फैसला करके ही दम लेगा। भूख से जो कमजोरी अब तक निरंजन अनुभव कर रहा था, वह एकाएक दब गई और निरंजन उठा, पत्नी के पास आया और बांह पकड़कर बोला, "तुम रोती क्यों हो?"

"रेखा, रोवो मत। बोलो तुम्हें क्या दुःख है।"

"कुछ नहीं।" कहते कहते रेखा फफक पड़ी।

निरंजन से नहीं रहा गया। पत्नी को उठा कर उसका सिर अपने कलेजे में दाब लिया। "रेखा चुप रहो, हमें माफ करो।" पर रेखा को रोने का अवसर मिला था। निरंजन के कलेजे की धड़कन और रेखा की सिसकियां साथ ही चल रही थीं।

निरंजन के लाख चुप कराने पर भी रेखा नहीं चुप हुई। हाँ पन्द्रह मिनट रो-लेने से जब जी हलका हुआ तो खुद ही चुप हो गई। फिर तो निरंजन-ने लाख चाहा कि वह रेखा से बातें करके उसे खुश करे पर वह नहीं बोली और मुँह घुमा कर पड़ी ही रही।

"ऐसी चुप्पी भी क्या!" कहकर निरंजन अपनी खाट पर आ पड़ा।

निरंजन और रेखा दोनो ही मन ही मन कुछ निश्चय करते रहे पर अलग ही अलग! ऐसा लगता था मानों इस नारी और इस पुरुष को अब एक दूसरे की आवश्यकता नहीं।

और फिर रात को कौन कब सोया किसी को पता नहीं। निरंजन की नींद खुली तो देखा कि खाट पर केवल मुन्ना सो रहा है और रेखा और बिट्टी दोनों उठ चुकी हैं। रेखा काम में लगी थी, शायद चाय का पानी चढ़ा रही थी और बिट्टी अपना सबक याद कर रही थी।

निरंजन उठा और चुपचाप देखा—सब काम रोज की तरह ही चल रहा है। शायद रात की घटना का इस पारिवारिक दिनचर्या पर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा। वह भी अपने काम में लग गया।

ज्योंहीं निरंजन ने चाय समाप्त करके शीशे का गिलास रक्खा कि बिट्टी ने आकर एक पुर्जा थमा दिया और कहा, "यह अम्मी ने दिया है। मामा आवेगें—तरकारी ले आ दीजिए।"

निरंजन ने पुर्जा पढ़ा। रात के आदेशानुसार सब लिखा था—

"सेर भर आलू
आध सेर बैगन
आध सेर मटर की छीमियां
नेनुआ
मूली
चार नीबू
दियासलाई
और सेर भर चीनी।"

निरंजन ने कुछ कहा सुना नहीं। खूंटी पर टंगी कमीज को झटक कर उतारा। जमीन पर कुछ गिरने की आवाज हुई। देखा कि पीतल की बटन नाचता हुआ नाली में समा गया। एक तो कमीज में यों ही दो बटन थे, अब एक ही रहा। पर इसकी चिन्ता किए बगैर ही निरंजन ने कमीज पहन ली। टेनिस कालर कंधे के पास बटन-विहीन हो गया। हाथ का कालर तो कुत्ते की कान की तरह पहले ही झूल रहा था। पर निरंजन को इसकी भी कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि उसने रात को मन में कुछ निश्चय किया है।

द्वार पर आकर उसने जोर से कहा, "बिट्टी ज़रा झोला दे जाना।"

सुनकर बिट्टी ने माँ की ओर ताका। वह जानती थी कि उसका नाम लिया गया है पर बात मां से ही कही गई है। रेखा ने भी एक बार आंखें तरेर कर निरंजन को देखा और बिट्टी के हाथ में झोला थमा कर पाइप की ओर बढ़ गई। रेखा की इस समय की यह उपेक्षा निरंजन को अच्छी न लगी। बिट्टी के हाथ से झोला ले वह सड़क पर आया और जेब में पड़े एक-एक रुपये के यो नोटों को एक बार फिर देख लिया।

और जब सामान लेकर लौटा तो केवल एक अठन्नी बची थी। डेढ़ रुपये खर्च हो गए, पर डेढ़ रुपया खर्च करके भी उसे कोई शांति नहीं मिली।

आफिस के समय जब वह वही बिना पूरे बटन की कमीज पहने खाने बैठा तो रेखा ने चुपचाप थाली परोस दी और गूंगों की तरह दोनों चुप रहे।

निरंजन ने झटपट खाया और आफिस के लिए चलने लगा। तभी रेखा ने फिर बिट्टी से एक पुर्जा और भिजवाया। "यह भी लाना है। अम्मी कहती हैं।" बिट्टी ने कहा। यह पुर्जा भी निरंजन पढ़ गया।

दो गज पापलीन
चार गज छींट
एक डिब्बा बर्ली
बड़ी लालटेन का शीशा।
अपनी नाप से एक अंगुल छोटी चप्पल
भइया के बच्चों के लिए बिस्कुट और लेमन चूस !

निरंजन ने उसे ध्यान से पढ़ा और फिर पुर्जा मोड़ कर कमीज की जेब में रखने को हाथ डाला तो अठन्नी उंगलियों से टकरा गई।

एक अठन्नी !!

और पुर्जा को इतनी वस्तुएँ !!

और इसी उधेड़ बुन में चला जा रहा था कि कोतवाली के सामने पहुँचते ही बड़ी घड़ी के एक घंटे ने उसकी तन्द्रा तोड़ी। ऊपर सिर उठाकर देखा—अभी केवल साढ़े नव बजे है। भला इतनी जल्दी आफिस जाकर क्या करेगा। अचानक उसका ध्यान, "विद्यार्थी टी स्टाल" की ओर आकर्षित हुआ। इस स्टाल के जन्म के साथ निरंजन का भी सम्बन्ध है। काफी मदद करके बेनी को उसने यह स्टाल खुलवा दी थी और वह अब काफी चलने लगी थी।

निरंजन सीधे वहीं पहुँचा। यहाँ आकर अक्सर वह बहुत बड़ी बड़ी व्यथा भूल गया है। यहीं चाय के प्याले पर उसने पार्टी के कई फैसले भी लिए है।

आज ज्यों ही उसने भीतर कदम रखा कि देखा पार्टी के तीन कामरेड गोपाल, अहमद और कमल एक मेज पर बैठे है। निरंजन ने देखा तो जी जल गया। आगे उनसे बोलने को बिलकुल जी न चाहा। तभी गोपाल ने उसे देख लिया और फिर तीनों उसके सम्मान में उठ खड़े हुए। निरंजन की वे सभी बहुत इज्जत करते है। यहाँ की पार्टी का वह प्राण था।

पर निरंजन इन्हें टालने के फेर में था। इन्हें देखकर उसे पत्नी की रात वाली रोती सूरत फिर याद हो आई। उसकी सारी देह में रोमांच हो आया।

कहा, "भाई माफ करना, आज जरा जल्दी में हूं।" और वह बेनी की ओर बढ़ गया। "बेनी एक प्याला चाय, जल्दी!"

बेनी कुछ समझ न सका। जो आदमी कभी एक घण्टे के पहले यहां से नहीं गया उसे आज इतनी जल्दी क्यों है? चुपचाप उसने प्याला निरंजन की ओर बढ़ा दिया और खड़े खड़े ही वह चाय पीने लगा। चाय काफी गरम थी फिर भी वह जल्दी ही पी जाना चाहता था।

बेनी ने हिम्मत करके पूछा, "बाबू आज कुछ परेशानी?"

"हाँ, परेशान हूं, फिर बताऊँगा।" कह कर खाली प्याला रखने के साथ ही निरंजन ने अपने जेब की अठन्नी भी खन् की आवाज़ के साथ बेनी के सामने बढ़ा दी।

"इतनी जल्दी क्यों?" बेनी ने हिचकते हुए कहा।

"हाँ जल्दी है। लाओ सात आने।"

हड़बड़ा कर बिना ठीक से देखे हुए ही बेनी ने एक चवन्नी एक दुअन्नी और एक एक इकन्नी आगे बढ़ा दी और जूठा प्याला धोने पाइप की ओर बढ़ गया।

निरंजन ने देखा— हड़बड़ी में जो चवन्नी बेनी ने दी है वह खोटी है। अब क्या करे? क्या बेनी से बदलवाए? पर शायद बेनी के पास और पैसे नहीं थे। वह यही सोच रहा था, तभी किसी ने बाहर से उसे पुकारा। "अभी आया—" कह कर वह बाहर चला आया। सातो आने बेनी की मेज पर ही रहे।

पाँच सात मिनट बाद जब वह आया तो देखकर चकित रह गया कि सातो आने पैसे गायब थे। अब वह क्या करे, "बेनी मैंने पैसे यहीं छोड़ दिये थे।"

"अरे मैं तो उधर प्याला धो रहा था बाबू।" और यह कहते हुए बेनी की और साथ ही निरंजन की भी आंखें उस मेज पर बैठे पार्टी के तीनों सेवकों पर जा टिकीं। निरंजन ने कुछ कहना उचित नहीं समझा। सोचा सात आने का त्याग ही सही।

तभी गोपाल ने पूछा, "बेनी कितने पैसे हुए?"

"तीन प्याले लिए न! तीन आने।" और जो चवन्नी कमल ने निकाल कर बेनी को दी उसे देख कर निरंजन चौंक गया। वही खोटी चवन्नी।

चवन्नी और कमल का सम्बन्ध समझते उसे देरी न लगी।

निरंजन अब वहां क्षण भर भी नहीं रुका। भाग कर बाहर आया और आफिस पहुँच कर सब कुछ भूल जाना चाहा। जेब में हाथ डाला तो पत्नी के पर्चे ने गर्म अंगार की तरह हाथ को जला दिया।

निरंजन आफिस पहुँचा। चपरासी ने फाइलों का गट्ठर लाकर सामने धर दिया।

ग्यारह बजे बड़े साहब आये। निरंजन ने पहले ही पहुँच कर अर्जी दी। अब वह काम नहीं करेगा—आज तक का हिसाब चाहता है।

साहब का चेहरा तनिक भी लाल-पीला नहीं हुआ। आज्ञा लिखकर दिया कि जाकर पैसे खजान्ची से ले लो।

निरंजन को आश्चर्य हुआ कि साहब इतनी आसानी से कैसे मान गए। पर उसे शायद नहीं मालूम था कि साहब को आज पांच क्लर्कों की छंटनी करनी थी। हेड आफिस से हुक्म आया था कि इतने क्लर्क अधिक हैं। यह स्वेच्छा से दिया हुआ इस्तीफा साहब के लिए वरदान था।

जब निरंजन अपनी आधे महीने की तनख्वाह लेकर बाहर चलने लगा तो आस-पास की मेज पर से सिर उठाकर साथी क्लर्कों ने पूछा, "निरंजन खैरियत तो है ? काम नहीं करोगे क्या आज ?"

"हां, कभी नहीं करूंगा।" और वह बाहर।

निरंजन ने रात को यही निश्चय किया था, शायद ! अब उसे एक रास्ता चुन ही लेना है। चाहे पार्टी, चाहे पत्नी और बच्चे। उसने निश्चय कर लिया था कि इस बार पत्नी जब महीने भर बाद मायके से लौटे तो निरंजन को कुछ दूसरा ही पावे। आधी तनख्वाह—चालीस रुपये—में पत्नी के पर्चे की सभी चीजें आ जाएँगी।

मामाजी

आज सबेरे ही तो मामा जी के नाम चिट्ठी आई है। दिन भर वे उसे लिए लिए घूमे। बड़ी जीजी की बेटी सन्नो का ब्याह है। सो मामा जी का जाना बहुत ही आवश्यक है। जब जब वे पत्र पढ़ते हैं, चूसे हुए आम का-सा मामा जी का चुचका हुआ नीरस चेहरा हरा हो जाता है। अर्से के बाद किसी शादी में शामिल होने का अवसर आया है।

इन मामा जी का नाम किसी को नहीं मालूम। बड़ी जीजी के यहाँ सभी 'इन्हें 'मामा जी' कहते हैं और यहाँ ये 'मुंशी जी' के नाम के मशहूर हैं। किसी वकील से मुंशी जी नहीं, बल्कि पढ़ाने वाले मुंशी जी हैं ये। मुहल्ले भर के छोटे-छोटे बच्चों को पढ़ाया करते हैं।

मामा जी ने तय किया कि सन्नो के ब्याह में जायेंगे। पर एक समस्या सामने खड़ी हुई—और तो काम चल जायगा पर कोई अच्छी धुली हुई धोती नहीं है। सन्दूक में एक धुला; साफ पैजामा तो जरूर है! दो दिन तो वही चला लेगा। पर अगर जीजी ने दो दिन और रोक लिया तो....? पूरे तीन वर्ष के बाद तो कहीं जाने का मौका मिल रहा है। भला कैसे आशा की जाय कि जीजी, संसार में सहोदर कहे जाने वाले अपने इस भाई को दो ही दिनों में, वह भी शादी की भीड़-भाड़ में, ऐसे ही आने देंगी। कम से

कम दो एक दिन और अवश्य ही रोकेंगी, कुछ सुख-दुख की बात करेंगी।

कुछ सोचने के बाद मामा जी एक दम से उठे और बांस पर लटकती गिंजी, गीली, मैली, धोती को बगल में दबाया और ताख पर रखे 'पांच सौ एक' साबुन के छोटे टुकड़े को उठाया और पाइप की ओर चल पड़े।

क्षण भर बाद धोती भींग चुकी थी और मामा जी की दाहिनी हथेली में दबा वह साबुन का टुकड़ा तेजी से फिसल रहा था और मामा जी मन ही मन निश्चय कर रहे थे कि कल सभी लड़कों को बता देना है कि तीन चार दिन के लिए पढ़ाई बन्द रहेगी।

तीसरे दिन, कुरता धोती पहने और सिर पर गांधी टोपी लगाए, हाथ में खाकी जीन का झोला लटकाए मामा जी बड़ी जीजी के दरवाजे पर जा पहुँचे। बाहर ही थे कि घर के पुराने नौकर रमुआ ने प्रफुल्लित होकर मामा जी का स्वागत किया, 'बड़े दिनों के बाद आये हो मामा जी!"

"हैं....हैं...।" दांत निपोरते हुए सिर हिलाकर मामा जी ने उत्तर दिया। जीजी के घर आकर, साफ सुथरा, लिपा पुता, रंगा चुंगा दरवाजा देखकर वहाँ आए हुए सभी नाते-रिश्तेदारों की याद आ गई और मामा जी का दिल बहुत जोरों से धड़कने लगा! खुशी का यह एक उफान था, जो लगता था अपनी सामर्थ तोड़ चुका था और दिल के बाहर आने को आतुर था।

रमुआ कुछ कहने जा ही रहा था कि मामा जी ने उसी लहजे में पूछा—"घर में सब अच्छे तो? कुशल मगल है न?"

"हां मामा जी, पर तुम तो हम पंचन का जाय के अस बिसार देत हौ कि कभी दुइ पइसे का कारडौ नहीं छोड़ के हालचाल पूछ लेतेव।" घर के प्राणी की ही तरह रमुआ ने परम आत्मीयता का परिचय देते हुए पूछा।

पर तब तक मामा जी ड्योढ़ी पार करके भीतर आँगन में पहुँच चुके थे। सीढ़ी से उतरती हुई बड़ी जीजी ने देखते ही पुकारा, "आ गये भैया? अच्छे तो रहे? दुबले हो गये हो। अच्छा हुआ जो आ गए। हमारे यहां करने-धरने वालों की कमी थी।" अब तक जीजी सारी सीढ़ियां उतर चुकी थीं।

मामा जी का जी गद्गद् हो उठा? जीजी को देखते ही उनके मस्तिक में बहुत सी मधुर मधुर स्मृतियां इतनी तेजी से भर गईं जैसे रेलगाड़ी के तीसरे दरजे के डिब्बे में मुसाफिर भरते हैं। वे एकटक जीजी का मुंह निहारते

इसी में न तो वे जीजी की कोई बात ही ठीक से सुन पाये न कोई उत्तर ही दे पाये।

फिर जीजी ने आगे बढ़ कर मामाजी का हाथ पकड़ा और सामने वाले कोठे में जहां सन्नो अपनी सखी सहेलियों में घिरी बैठी थी, ठहाकों के बीच हंगामें के बीच, चुहल चुटकियों के बीच, ले जाकर खड़ा कर दिया और कहा "देख सन्नो, मामाजी आ गए।"

सन्नो ने चौंक कर मामाजी को देखा और लजा कर सिर गाड़ लिया। ये लड़कियां भी क्या हैं! मामाजी को सन्नो कितना स्नेह करती है पर लड़कियाँ हैं कि शादी के पूर्व कुछ और, बाद और। और अभी शादी तो होनी थी पर तैयारी के बीच ही लड़कियां ऐसी पराई पराई सी हो जाती हैं कि अपनों से भी शर्म और लज्जा करने लगती हैं। मामा को लगा जैसे सारे संसार की शर्म इकट्ठा आज सन्नो पर ही छा गई है। सन्नो का यह व्यवहार देखकर वह भी झेंप से गये। चेहरा लाल हो गया। कुछ कह सुन भी न पाये कि आसपास बैठी सभी लड़कियां जाने क्यों खिलखिला कर हँस पड़ी। शायद मामाजी के भोले भाले मुंह को देख कर या उनके बहुत ही सीधे-सादे कपड़ों पर। तभी एक लड़की जो सन्नो के बिलकुल बगल में बैठी थी और सबों से अधिक चुलबुली थी, थोड़ा उठकर बोली, "जरा दाढ़ी तो बनवा लेते।" और कह कर वह दूसरी ओर यों देखने लगी मानो उसने कुछ भी कहा सुना न हो।

ये शब्द मामाजी के कानों में तीर से चुभे और खाली हाथ झट गालों पर जा पहुँचा। वास्तव में पांच दिनों की दाढ़ी थी।

फिर जो जोरों का ठहाका लगा कि मामा जी का सारा बदन कांप गया और मुंह लाल हो उठा। वे सीधे घूमकर कमरे के बाहर हो गए। जीजी भी खड़ी तमाशा देखती रही। काम काज की भीड़ में उनके चेहरे पर हंसी खो गई थी वह एक बार पुनः वापस आ गई। मामा जी वहां से हटकर सीधे बैठक के कमरे में जहां अन्य मेहमानों का सामान रखा था, आकर बैठ गए। भीतर लड़कियों का ठहाका उसी मस्ती से वातावरण को हंसा रहा था और मामा जी के कानों में तो इस तरह गड़ रहा था जैसे सचमुच उनके कानों में कोई घाव हो गया हो। रह रह कर उन्हें अपने आप पर गुस्सा आता और वे दांत पीस उठते। कभी कभी तो उन लड़कियों पर और

सबसे ज्यादा उस शोख लड़की पर जिसने दाढ़ी की बात कही। ऐसा क्रोध चढ़ता कि अपने दोनों हाथों से वे अपने झोले को इस प्रकार बीच में पकड़ कर दाबते जैसे सचमुच उसी लड़की की गरदन उनके हाथ में हो और वे बदला लिये बिना नहीं मानेंगे।

वे सोच रहे थे कि लड़कियों ने उनका मजाक उड़ाया है। क्या इसलिए कि वे सीधे सादे कपड़े पहने थे और उनके बदन पर तंजेब का कुरता नहीं था। वे पैदल चल कर आए थे और आधी टांगों तक धूल चढ़ी थी, या हाथ में गंदा झोला लटकाए थे और पीछे ट्रंक लादे कोई कुली नहीं था, इसलिए। लज्जा, ग्लानि और अपमान से उनका जी भर गया। वे देश-सेवक भी थे, इसलिए उनके मन के अन्तस्थल में बैठा विद्रोही नेता भी जाग उठा-ये लड़कियां क्यों हंसी? वह पढ़ा लिखा है, निर्धन है पर क्या उसके गुणों का इस समाज में कोई मान नहीं। क्या वह इसी प्रकार सदा हंसी का पात्र बना रहेगा। नहीं—नहीं वह हंसी का पात्र क्यों? हंसने वाले ही पूरे मूर्ख होते हैं।

इसी तरह हंसी को लेकर वे उधेड़बुन में लगे थे और अपने आप पर खीझ रहे थे। रह रह कर वे अपनी पांच दिन बासी दाढ़ी पर हाथ फेर रहे थे। वे भूल गये थे कि विवाह के घर में इस प्रकार बिना कारण ही हंसना बिल्कुल स्वाभाविक था। पर मामा जी के लिए तो यह हंसी सचमुच बिल्कुल अपरिचित सी थी, अस्वाभाविक।

तभी किसी की आने की आहट ने मामा का ध्यान तोड़ा। गरदन घुमाई तो देखा कि जीजा जी खड़े थे। इन्हें देखते ही उनके चेहरे पर कौतूहल छा गया। हंस कर उन्होंने कहा, "मामा जी!"

अभी तक मामा जी के मन में जो खुशी छाई थी एकदम चिढ़ में बदल गई। वह लड़कों के मामा हैं, सही, पर यह बहनोई भी मामा कहे यह तो अपमान है, गाली है, पर क्या करते! साले और बहनोई का रिश्ता जो ठहरा कुछ भी हो, सुनना ही पड़ेगा। सो जब मामा के मन पर चिढ़ छा गई तो जो कुछ कहना चाहते थे, भूल गए। और जीजा ने केवल इसीलिए तो यह कहा भी था। मामा की इतनी ही खीझ से तो उनका मतलब था। क्षण भर को मामा के चेहरे का भाव जिस तीव्र गति से बदलता रहा वही तो उनके मुख्तारी के जीवन में मनोरंजन का साधन था। जीजा बड़े

अच्छे स्वभाव के थे, मीठे, मधुर और स्नेही। शहर के प्रसिद्ध मुख्तार थे और थे बड़े मानी दानी इज्जतदार आदमी। मामा को अपने इस बहनोई पर पूरा गर्व था पर उनका यह मजाक ही अच्छा नहीं—जब देखा बस 'मामा' कह दिया—न सोचा, न समझा, भला कितनी गाली पड़ती है! परन्तु खैर, प्रश्न तो यह है कि किया क्या जाय? क्या मजाक का उत्तर मजाक से ही दिया जाय, पर व्यर्थ एक तो बड़े हैं दूसरे मजाक का पद भी है। उन्हीं का मनोरंजन सही।

थोड़ी देर तक इधर उधर की ही बातें हुईं अन्त में उन्होंने मामा को काम बताना शुरू किया। इधर उधर के छोटे मोटे कामों के अलावा अन्त में कहा, "आप और सब छोड़िए, केवल मिठाई खाने का जिम्मा ले लीजिए अपने ऊपर। बस आप हलवाई के पास ही अपनी कुर्सी डाल लीजिए और कस कर काम लीजिए। साथ ही यह भी ख्याल रखिएगा कि कहीं हलवाई अधिक घी या मैदा या चीनी का नुकसान न करें।"

मामा जी जीजा की हर बात पर सिर हिलाते गए, मानो, सब अक्षरशः सुनते जा रहे हैं और समझते भी जा रहे हैं।

दूसरे दिन ही मामा जी हलवाइयों के पास जा डटे, उसी मुस्तैदी से जैसे मेहतरों से जमादार काम लेता है।

और दूसरे दिन ही दावत थी। दोपहर को औरतों की और रात को पुरुषों की। दोपहर को जब औरतों के आने का तांता शुरू हुआ तो हांक-डांट का बाजार भी गर्म हो गया। क्षण क्षण पर कचौड़ी, पूड़ी, पापड़ और साग की पुकार होती। शायद भीतर औरतों की पांत जीमने बैठी थी। पर इसमें शोर की क्या जरूरत! मामा शायद भूल गए कि औरतों की पांत में परोसने के लिए औरतें ही होती हैं। एक के स्थान पर दो को देना और दो बरबाद करना उनका स्वभाव है। खैर, मामा सतर्क हो कर बैठे थे, जो मांग आवे भीतर से वह तत्काल पूरी होनी चाहिए। मामा इसी सफलता में अपना काम पूरा हुआ समझते थे। हलवाइयों के हाथ मशीन की तरह तीव्रगति से चल रहे थे। और मामा जी अपनी कुर्सी पर आसन बदलते हुए, उचक उचक कर देख रहे थे, पूड़ियां फूल तो रही हैं।

तभी नौकरानी ने आकर तीखे स्वर में कहा, "क्या मामा जी, वहां सब लोग हाथ रोके बैठे हैं, अभी तक पूड़ियां नहीं उतरीं।" मामा जी हक्के बक्के चुप, परन्तु तभी कड़ाही से पूड़ियां निकाल कर झाबे में रखते हुए हलवाई ने कहा, "ले, ले जा! कोई ले जाने वाला भी तो हो कि पुड़ियां अपने आप ही पहुँच जाएं। कब से तैयार रखी हैं।"

हलवाई की चाल चल गई। मामा की ऊपर रुकी हुई सांस छूटी। जान में जान आई। तभी, उधर से ही वह चीखती चिल्लाती चली आ रही थी—परिचित स्वर था। मामा का जी धक धक करने लगा। हवा की तरह 'कचौड़ी-कचौड़ी' चिल्लाती वह चली आ रही थी। यहां पांत बैठी थी और कचौड़ी नहीं पहुँच रही थी। इसी से वह खुद लेने आ पहुँची, मिठाईखाने में। उसे शायद खुद मामा के यहां होने की आशा न थी सो वह भी जैसे अचम्भा से रुक सी गई। वह एकदम से ठिठक गई और उसका वह रूप? मामा कांप गए। डर से नहीं, बल्कि उनके शरीर में रोमांच हो आया। कामकाज की भीड़ के कारण उसने सिर पर के पल्ले को गरदन से लपेटते हुए लाकर कमर में खोस लिया था। इससे सारा सिर खुल गया था और भूरी भूरी अलकें इधर उधर स्वतंत्रता से छिटक रही थीं। और आंचल शरीर से इस प्रकार कस कर लिपटा था कि उसका उभरा यौवन कसा कसा जाने कैसा लग रहा था। मामा की दृष्टि में यह लड़की कल ही दाढ़ी की बात लेकर इस प्रकार गड़ गई थी कि कल शाम तक वे इसी के बारे में सोच रहे थे। और आज उसका यह रूप तो जैसे उन्हें प्रभावित किए बिना न रहेगा। सोचते सोचते मामा को फिर दाढ़ी की सुध आई। हाथ फौरन गालों पर जा पहुँचा, शायद आदत थी और इस समय वे यह भूल चुके थे कि सबेरे ही तो दाढ़ी बन चुकी थी। यादआते ही मामा को मानों बड़ा बल मिला, आज हंसने को कुछ नहीं होगा। वे अकड़ गए। कुर्सी पर मुड़े पांव नीचे लटक गए। तभी मामा का यह अभिनय देख वह फिर हंसी। और बिना बात ही मोती बरसना मामा को अच्छा लग कर भी जाने क्यों अजीब सा लगा।

मामा को फिर झेंप आ गई। ये शहर की लड़कियां भी कितनी शोख होती हैं। वे झट मुड़ कर हलवाई से बताने लगे, "अरे भाई, पहले कचौड़ी ही उतरो न!"

तभी देरी होते देख जीजी भी आ ही पहुँची, "अरे कुन्ती, तू यहां क्यों

जम गई, अरे कचौड़ी तैयार नहीं है न सही, कुछ और ही उठा ले।" कहते कहते सहसा वे रुक गई। मामा को देखते ही उन्हें जैसे कुछ याद हो आया, "अरे भैया तुम यहां हो। मैं तो कामकाज की भीड़ में कुछ सुधि रख ही नहीं पाती। आज कई बार सोचा पर बार बार भूल गई। तुमने आज खाया पिया भी कि नहीं कुछ। शायद नहाया भी नहीं न, देखो यह तो शकल ही बताती है।"

जीजी की यह स्नेहपूर्ण बातें सुनकर मामा का चेहरा खिल गया। जी गद् गद् हो उठा बोले, "जीजी तुम मेरी चिन्ता मत करो, अपना काम काज देखो, मेरे खाने-न्हाने की चिन्ता न करो, मैं जब चाहूंगा खा पीलूंगा।"

"अच्छा भइया, संकोच मत करना, काम काज का घर है, अपना ही समझना।" कहकर जीजी घूमीं कि कुन्ती को जाते देख कर पुकार कर कहा, "पर क्यों, अरे कुन्ती सुन तो, देख, अभी जब भीतर का काम खतम हो जाय तो मामा के लिए तेल, साबुन और एक बाल्टी पानी भी भेज देना फिर नाश्ता करा देना, बेचारे सबेरे से भूखे प्यासे काम में जुटे हैं। समझी, भूलना मत।"

जीजी चली गई और मामा जी उन्हीं के बारे में देर तक सोचते रहे इतनी भीड़ है काम की, फिर भी जीजी कितनी चिन्ता करती हैं।

अभी आधे घंटे भी न बीते थे कि नौकरानी एक हाथ में भरी बाल्टी और दूसरे में तौलिया, साबुन की डिबिया और एक शीशी में तेल लिए जा पहुँची।

मामा ने कहा, "यह सब क्यों लाई?"

"कुन्ती बीबी ने भेजा है।" उसने सहज भाव में कह दिया।

"तो इन सब की क्या जरूरत थी।" साबुन और तेल की शीशी की ओर देख कर मामा ने कहा। और आगे बढ़कर तौलिया, साबुन, तेल, सब कुछ लेते हुए मन ही मन कुन्ती के प्रति आदर से खुश होने लगे।

भीतर शायद औरतें खा चुकी थी इसी से अब पूड़ी कचौड़ी की मांग नहीं थी। कुछ शांति हुई थी। मामा जी नाली के पास बैठ कर कुल्ला करने लगे।

थोड़ी देर बाद, जब मामा जी पांव धो ही रहे थे कि नौकरानी फिर आ गई और इस बार उसके हाथ में ऐना और कंघी थी। मामा जी को जैसे यह

सब ऊब की बात लगी हो सो मुंह बना कर कहा, "अरे इन सब की क्या जरूरत थी? बेकार?" कहते हुए उठकर मुंह पोंछने लगे।

नौकरानी ने उनकी बातों का उत्तर तो नहीं दिया पर आगे बढ़कर कुर्सी पर ऐना कंघी रखती हुई बोली, "कुन्ती बीबी ने पूछा है कि और क्या चाहिए?"

"और क्या, इसके बाद भला क्या चाहिये? साबुन, तेल ऐना, कंघी सब तो हो गया, और यह भी फिजूल।"

नौकरानी ने फिर कुछ नहीं कहा परन्तु तभी लगा जैसे पास ही के किसी कमरे से किसी ने फुसफुसा कर कहा हो, "क्यों, पाउडर, क्रीम, स्नो...?"

मामा को एक अजीब सा झटका लगा। यह कौन है? पर कोई दिखाई न पड़ा। चारों ओर और ऊपर भी देख गए। अवश्य ही किसी ने मजाक किया है। सोचते ही मामा का चेहरा लाल हो गया और जल्दी जल्दी वे अपना मुंह रगड़-रगड़ कर पोछने लगे।

उनके इस झेंप निवारण क्रिया के साथ ही फिर उसी दिशा से, जहां से अभी आवाज आई थी, अब मुक्त अट्टहास का एक गूंजता हुआ स्वर आया जो मामा जी की छाती को चीर कर अन्तःस्थल तक समा गया। एक जलन हुई, कड़वाहट मालूम हुई।

मामा की अजीब दशा थी। यह नए नए अनुभव थे। अवश्य ही यह भी कुन्ती की ही शरारत थी, पर वह क्यों मामा को सताने के फेर में है। मामा ने झट आगे बढ़ कर जल्दी जल्दी कंघी सिर पर फेरना शुरू किया। मानो वे जितनी जल्दी जल्दी कंघी चलाएंगे, उनके मन का क्षोभ कम होता जायगा।

उसी दिन शाम को दिया जल गया था। घण्टे भर बाद मेहमान दावत के लिए आने लग जाएंगे, तैयारी शुरू हो गयी। ताकि उस समय, दोपहर की तरह पूड़ी कचौड़ी का शोर न मचे।

मामा जी छुट्टी पर से लौटे हुए फौजी सिपाही की तरह हलवाइओं के बीच खड़े थे, बिलकुल चुस्त, नए जोश में मुँह हाथ तो धो ही चुके थे, बालों में तेल था और कंघी से संवारी हुई मांग थी। ताजे ताजे चेहरे में मामा जी का रूप ही बदल गया था।

तभी एक हाथ में मिठाई की तश्तरी लिए हुए और दूसरे में एक गिलास पानी लिए हुए कुन्ती आ गई। मामा जी का चेहरा, उसे देखते ही लाल हो गया। जाने क्यों उसे देख कर घबड़ाहट हो जाती है, पर आना भी तो अच्छा ही लगता है। जल्दी में पूछने में हकला गए, "यह क्यों, किसलिए किसके लिए?"

सुनते ही कुन्ती के चेहरे पर वही धूर्ततापूर्ण मुस्कराहट दौड़ गई। वह भी उसी तरह हकलाने का अभिनय करके बोली—"यह मिठाई, नाश्ता के लिए, आप के लिए!"

कहते हुए उसने कुर्सी पर तश्तरी और गिलास रख दिया। मामा इस लड़की के चलते अजीब परिस्थिति में फंसे थे। कुछ कहते न बना, पर बोले, "मुझे भूख नहीं, और खाना होता तो क्या मैं यहीं से मिठाई न ले लेता!" "सो जानती हूँ, तो सबेरे से क्यों नहीं लिया था, पर यह मैं नहीं लाई हूँ, यह तो...... यह तो मामी ने भेजा है। खा लीजिए!" कह कर वह एक बार फिर हंसी। और चली गई।

उनके सामने कुन्ती का यह चरित्र जुगनू सा चमक रहा था। न तो वह रोशनी को ही स्थाई रूप में देख पाता न अंधकार को न यही जान पाता कि कुन्ती का यह स्नेह क्यों, न यही जान पाता कि प्रत्येक बात पर यह हंसी और मूर्ख ब-ाने की कोशिश भी क्यों? पर कुछ भी हो। उस-दिन दाढ़ी की बात को लेकर कुन्ती जितनी बुरी लगी थी, उतनी बुरी वह है नहीं। देखो न, जीजी के इशारा करने पर ही वह सब कुछ दे गई। साबुन तेल, सब कुछ और फिर मिठाई भी लेती आई। वह कह रही थी, "वह तो नहीं लाई, मामी ने भेजा है।" सही तो वह कह रही थी। भला वह क्यों लाती। जीजी ने भेजा था, उसकी मामी! तो क्या जीजी की वह भांजी है। यानी जीजा जी के बहिन की लड़की। पर कुछ भी हो। बड़ी शोख है। सोचते सोचते मुंशी जी चाह कर भी उसपर क्रोधित नहीं हो सके।

कुन्ती के ही विषय में सोचने सोचते मामा ने सारी मिठाइयां समाप्त कर दीं। उन्हें याद भी नहीं कि कितनी थीं, या पहले लड्डू खाया या बरफ़ी, या गुलाब जमुन! वे तो लगातार एक कुशल दार्शनिक की तरह रह रह कर कुन्ती के चरित्र को सोच रहे थे कि वह कितनी शोख है। कितनी चंचल, कितनी अच्छी...अच्छी। कुन्ती जैसी लड़कियां उसे अच्छी लगती हैं, पर,

पर वह यह क्या सोच गया ? उसे फिर एक झटका लगा । कोई भी लड़की उसे अच्छी नहीं लग सकती । कुन्ती भी नहीं । लड़कियां सभी गलत होती हैं, कुन्ती भी है । वह कभी ऐसा फिर नहीं सोचेगा ।

मामा जी बुरी तरह उलझे थे । कुछ दिमाग भी परेशान हो गया था, तभी उन्हें याद आया, तश्तरी खाली हो चुकी है । झट गिलास उठा कर मुँह में लगा लिया । तभी जब वह पानी पी रहे थे, दिमाग कुछ तर हो रहा था, उलझन भूल रही थी कि नौकरानी फिर आई और पूछा, "बीबी ने पूछा है, कुछ और तो नहीं चाहिए !"

मामा घबड़ा गए इस प्रश्न को सुन कर, बोले, "नहीं, अब क्या चाहिए भला ! क्या इतना ही कम था ! अब कुछ नहीं, नहीं, कुछ नहीं, चाहिए ।"

नौकरानी को जो कुछ भी सिखा पढ़ाकर भेजा गया था उसे वह तो कहना ही था । उसने फिर कहा, "अच्छा तो बीबी ने कहा है कि जो और कुछ चाहें तो वहीं मिठाईखाने से ले लेना ! अपने आप !" सुनते ही मामा का मुँह फिर लाल हो गया । बौखलाहट में मुंह से निकला, "हां हां, मैं ले लूंगा । और मैं तो यों भी लेलेता । पहले ही ले लेता । भेजा ही क्यों था ।"

इसका कोई उत्तर नहीं मिला । नौकरानी को इतना ही कहना था, कह कर वह चली गई । और आवेश में मामा तेज कदम इधर उधर चहल कदमी करने लगे । "मैं तो पहले ही ले लेता, भेजा ही क्यों था ।"—रह रह कर लग रहा था मामा को जैसे अभी जो मिठाई थी यह चीनी की नहीं थी, मिर्च की थी । उनका सारा मन कड़ुवा कड़ुवा हो रहा था । बिल्कुल उलझन में फंसा ।

अभी तक कुन्ती के प्रति मामा के मन में जो भी कोमलता उपजी थी, फिर वही कुढ़न और जलन में बदल गई । यह कुन्ती ! मामा के लिए वह प्रति क्षण एक पहेली हुई जा रही थी । मामा ने सोचा । यहां आकर वह इस जाल में बुरे फसे । उनके विनय की सारी शान्ति खो गई । इनसे तो भला था । कि वे आते ही न, अपना वही छोटा सा शहर, वही मुहल्ला और वही छः सात बच्चे जिन्हें अपना समझ मामा पढ़ाते थे, मुंशी जी बन कर । और जितना ही मामा इस बात को, कुन्ती की हंसी और बोल को, सोचते मन में दुहराते कि लगता जैसे वे किसी दलदल में गहरे फंसते जा रहे हैं ।

फिर रात को सभी मेहमान आए दावत हुई और दो तीन घंटे बा

समय तो ऐसा फ़ुर्र से बीता कि पता ही न लगा। मामा ने जब दावत के बाद कमर सीधी की और जीजा से समय पूछा तो पता लग साढ़े ग्यारह बज चुके हैं। जीजा ने कहा, "मामा अब जाकर तुम आराम करो, आज बहुत काम किया।"

मामा खुश हो गए। कहा, "अरे अब सब खतम ही है। बस आधे घटे में सब मूंद-ढांक कर हलवाई चले जाते हैं फिर छुट्टी ही छुट्टी तो है।" और तभी जब मामा अपनी उसी कुर्सी पर पुनः थके मांदे बैठे, हलवाई से सभी वस्तुएं किनारे रखा रहे थे कि जीजी आईं—"भइया, तुमने खाना अभी नहीं खाया होगा। अच्छा,ठहरो मैं तो उधर मंडप की ओर जाऊंगी—ब्याह की लग्न भी आ गई है और सबेरे ही तो बिदाई है न सूरज निकलने के पहले ही।"

"हां, हां, तुम जाकर काम देखो जीजी, मैं खालूंगा।" मामा ने कहा।

"नहीं नहीं, मैं किसी को भेजती हूं, कुन्ती को ही भेजती हूं, वह खिला देगी।" जीजी ने घूमते हुए कहा।

कुन्ती को ? नहीं नहीं ! मन ही मन मामा ने मना किया पर प्रकट वह यह जीजी से न कह सके। कुन्ती खाना लायेगी, वह नहीं खाएगा। जीजी भी क्यों हर काम में कुन्ती को ही आगे बढ़ा देती हैं। क्या वह उनकी कोई सेक्रेटरी है ?

सो मामा मन ही मन बरसाती बादल गरजा रहे थे। परन्तु कुन्ती तो नहीं आई। हां, नौकरानी ने ही फिर आकर पूछा, "कुन्ती जीजी ने पूछा है कि खाना यहीं भेजूँ या वहीं चलकर खाइएगा ?"

मामा ने सोचा, आधी ही बला आई। कुन्ती आती तो शायद वह इन्कार न कर पाता। सो कह दिया—धीरज के साथ, "मैं इस समय नहीं खाऊंगा। क्या तभी का खाया काफ़ी नहीं था ?"

"लेकिन बहू जी सहेज चुकी हैं।" नौकरानी ने कहा।

"कुछ भी हो मैं नहीं खाऊंगा।" मामा ने उसी धीरता से उत्तर दिया। और सुनकर नौकरानी चली गई।

फिर कोई नहीं आया। मामा को शांति मिली। अब तक सभी हलवाई और नौकर, कुछ तो चले गये थे,कुछ खाना खाकर बाहर जाकर पड़ रहे थे। काम तो कुछ था नहीं। मामा ने पास ही खड़े खटोले को बिछाया और बैठ

रहे। बैठते ही सारे शरीर में एक शिथिलता का अनुभव करने लगे। जैसे बहुत लम्बी यात्रा के बाद कोई बैठने का स्थान पाकर सारी थकावट एक साथ आ घेरती है उसी प्रकार मामा जी भी थक गए। बड़ी मुश्किलों से उठे और किवाड़ के बगल में लगी स्विच को दबा दिया। बिजली बुत गई। अँधेरा तो पूरी तरह नहीं हुआ क्योंकि वहाँ बरामदे की बत्ती का थोड़ा सा प्रकाश यहाँ भी आ जाता था। उस थोड़े से प्रकाश में मामा को बड़ी शीतलता मिली। वे उस सादे खटोले पर ही टांग मोड़ कर लेट रहे। अपना हाथ मोड़ कर सिर के नीचे रख लिया। इस बरामदे के बाद के कमरे और फिर बरमदे के बाद वहां आंगन था। शादी हो रही थी, वेद-मंत्रों की ध्वनि यहां तक आरही थी जो मामा जी को बहुत अच्छी लगी। वे आंख मूंदकर सुनने लगे और तभी उन्हें झपकी आ गई।

तभी कुछ खड़का, मामा ने चौंक कर देखा, सिरहाने की ओर खाट से गज भर की दूरी पर कुन्ती एक थाली में खाना लिए खड़ी थी। मामा जी अचकचा कर उठ बैठे। कुन्ती क्षण भर जाने किस तरह मामा को देखती रही कि मामा पसीने पसीने हो गए। फिर कुन्ती ने पास ही थाली रख दी और कहा, "खाते क्यों नहीं, मामी जी हमारी आफत करती है।" कह कर वह दूर जा खड़ी हुई।

मामा के मन में आया कि वह पहले किसी दृढ़ता में ही कह दें कि नहीं खाएंगे पर हिम्मत न पड़ी। सोचा—'मामी आफत करती है, तो मेरे लिए तुम आफ़त में क्यों फंसो।' सो कह दिया—"भूख नहीं है।"

"अच्छा, थोड़ा ही खाइएगा। लीजिए।" और पुनः थाली की ओर उसने इशारा कर दिया। "और आप यहीं पड़े हैं, वहां नहीं गए, सब कोई वहीं गए, सब कोई वहीं है।"

"हमें यहीं अच्छा है, ठीक है।" मामा ने कहा।

फिर क्षण भर सन्नाटे का राज्य रहा। फिर कुन्ती ने कहा, "अच्छा और कुछ चाहिए।"

यह भला अभी मामा कैसे बताते। खाना शुरू भी तो नहीं किया, झुंझला कर केवल कहा, "नहीं, कुछ नहीं चाहिए।"

"अच्छा!" हंसी के स्वर में कहकर कुन्ती चली गई।

मामा ने खीझकर थाली अपनी ओर खींच लिया।

और सुबह करीब साढ़े चार बजे थे। सन्नो की बिदाई हो रही थी। सभी उदास गंभीर खड़े थे। दरवाजे के बाहर जहां मोटर खड़ी थीं, मामा भी हाथ बांधे खड़े थे। जब सन्नो को लाकर मोटर पर बैठाया गया तो मामा ने देखा कि जीजी बिलख पड़ीं। सन्नो भी फूट कर रो पड़ी। मां बेटी का यह चिर वियोग तो चाहे मामा सह लेते पर जीजी के आंसू ने उन्हें भी रुला दिया। उनकी भी आंखें भर आईं। तभी उन्हें जीजी के पीछे खड़ी कुन्ती दिखाई पड़ी। वह रो तो नहीं रही थी, गंभीर अवश्य ही थी पर मामा से आंखें मिलते ही मानो आंखों में ही वह ठठा पड़ी हो। मामा को फिर बड़ी ग्लानि लगी। उन्होंने मुंह घुमा लिया। यह समय हंसी का नहीं था, उन्हें बुरा लगा। आखिर कुन्ती क्यों समय असमय उन्हें देखकर हंस पड़ती है। मामा ने वहां से हट जाना ही अच्छा समझा।

लड़की की बिदा के पश्चात् सब काम समाप्तप्राय ही हो जाता है, शाम को जीजी ने मामा को बुलाया। पहुँचते ही मामा ने कहा—"जीजी हमें अब छुट्टी दो। लड़कों को दो ही दिन की छुट्टी देकर आया था।"

"अरे, यह कैसे ? अभी एक दो दिन तो और ठहरना ही पड़ेगा। और लड़कों को क्या, तुम तो ऐसा डरते हो जैसे तुम्हीं पढ़ते हो पढ़ाते नहीं।"

मामा चुप रहे।

तभी जीजी ने फिर कहा, "अरे, हां, आज राय हो रही थी कि कल जाकर तुम्ही सन्नो को बिदा करा लाओ। परसों की ही तो मुहूर्त बनी है। और तुम्हारे अलावा इस समय कौन है जो जाएगा। सो कल तुम चले जाओ। तीन घंटे ही तो गाड़ी का सफर है। परसों शाम को तो आ ही जाओगे ?

मामा भला कैसे इन्कार करते, चुपचाप सब सुनते रहे। जीजी ने फिर कुछ घरेलू बातें शुरू कीं, "और भइआ, तुमने व्याह के लिए क्या सोचा ?"

"क्या जीजी, तुम अभी तक नहीं भूली हो, मैं तो कह चुका, मेरा व्याह नहीं होगा। मैं ऐसे ही ठीक हूं।"

"लेकिन भैया, यह कैसे हो सकता है ? तुम्हें तो जाने क्या हुआ है। पहले तुम यहां थे। जब मैंने चर्चा चलाई तो यहां से भाग गये।"

तभी बगल में कमरे से कुन्ती की चीख सुनकर मामा का मन फिर चंचल हो उठा। कुन्ती पुकार रही थी, "मामी, मामी! कितनी पत्तलें सजानी हैं ?"

"आई, आई!" कहकर जीजी उठ खड़ी हुईं। जाते हुए कह गईं, "अच्छा भइया तुम सन्नो के ससुराल जाने की तैयारी करना—शादी ब्याह की बात लौटकर होगी।"

मामा कुछ सुन न पाए! इस समय यों कुन्ती का पुकार उठना उन्हें अजीब सा लगा। वे कभी ब्याह की बात सोचते। कभी जीजी के स्नेह को, कभी इस कुन्ती को।

और दूसरे दिन मामा चले गए। तीसरे दिन जब सन्नो को लिवा कर लौटे तो जैसे शादी ब्याह के मेहमानों से भरा पूरा यह घर सूना हो गया हो। सभी मेहमान चले गये थे। कुछ घंटे फिर सन्नो के आने से चहल-पहल में बीते, फिर वही सन्नाटा।

जीजी ने कहा, "भैया, क्या बताऊँ कुन्ती को मैं दो दिन और रोक लेती तो सब काम सिमट जाता पर क्या बताऊं उसका भी तो स्कूल खुल ही गया होगा। और कुछ भी हो बड़ी मिहनती लड़की है वह। अगर वह न होती तो मैं तो इस शादी में कुछ न कर पाती।"

जीजी ने तो यह सब सहज भाव में कह दिया। पर मामा का दिल मानो बैठने लगा। लगा कि अगर कुन्ती चली गई तो इस घर में मामा का भी रहना संभव नहीं। वह थी तो वातावरण में जान फूंके रहती थी।

पर ऐसा क्यों, मामा को ऐसा क्यों लग रहा है? कुन्ती चली गई। अच्छा हुआ। बुरा क्यों, जैसे सब चले गए सभी मेहमान, वैसे, वह भी चली गई, मैं भी तो चला ही जाऊंगा और कुन्ती, गई, चली, कोई खास बात नहीं, पर अगर न जाती तो ज्यादा अच्छा होता। मामा को लग रहा था कि कुन्ती से उनका कोई मतलब नहीं, कोई सरोकार नहीं पर यदि एक बार देख पाते तो मन को अच्छा लगता।

कुन्ती की हंसी, उसका स्नेह, उसकी शोखी, सब कुछ मामा को रह रह कर अतीत की स्मृति की तरह चकाचौंध कर रही थी।

मामा सोचते थे, गुनते थे, पर हाथ कुछ न आता था। कुन्ती से उनका क्या! पर लगता मानो शांत तालाब के बीच किसी ने एक पत्थर फेंक दिया हो और पत्थर के चारों ओर से लहरें उठ उठकर किनारे की ओर दौड़ पड़ी हों।

मामा के माथे की नसों का रक्त खट् खट् करके बज उठा।

और दूसरे ही दिन मामा अपने घर को चल दिए। उसी प्रकार हाथ में जीन का खाली झोला लटकाए। धीरे धीरे, पर जब आए थे तो कितना मन हल्का था और आज जा रहे हैं तो कितना भारी मन लिए हुए। जाने क्यों उन्हें कुन्ती की याद नहीं भूल रही थी। वे जा तो रहे थे पर लगता था मानो पीछे कुछ छोड़ आए हों, जिसका छूटना उन्हें प्रिय नहीं है पर छोड़ देने की विवशता थी।

जीजी के यहां से लौटकर मामा फिर अपने शान्त जीवन का एकान्त सुख भोगन लगे। सुबह शाम बच्चों को पढ़ाना और दोपहर को सोना। बाकी समय में एक आने की कोई चीज खरीदने के बहाने बाजार जाना और बहुत अधिक समय बनिया की दूकान पर ही हुक्का पीने में बिता देना।

मामा कुछ कुछ भूल चुके थे, कुछ कुछ शांति छा रही थी कि एक दिन फिर जीजी का पत्र आया, "जीजा जी ने दो तीन घर देखें हैं। मामा को आकर ब्याह पक्का कर लेना चाहिये।"

ब्याह का नाम पढ़ते ही कुन्ती का मुक्त अट्टहास फिर सुनाई पड़ने लगा। वे एकटक दीवाल पर देखने लगे—लगा सिर की धोती कमर में खोंसे कुन्ती खड़ी है, कचौड़ी के लिए आई है। उसका वह रूप मामा नहीं भूले हैं। उसका उभरा उभरा, कसा कसा यौवन! याद आता है तो लगता है मानो फिर कोई पत्थर तालाब में आ गिरा है और लहरें फिर कूल की ओर दौड़ पड़ी है।

मामा विक्षिप्त से बैठे रहे, चिट्ठी हाथ में लिए हुए, मुंह से अचानक निकला—"कुन्ती, कुन्तल!" और फिर उनका हाथ गालों पर, पांच दिन बासी दाढ़ी खुजला रहा था।

और एक झटके से मामा ने सिर हिला दिया, कंधा झटक दिया। मानो इस प्रकार वह मन का सारा भारीपन भी झिटक देंगे। आवेश में मामा जी ने उठकर जीजी को पत्र लिखना शुरू किया—वह आज साफ लिख देंगे—"शादी नहीं करनी है। और जीजी को चाहिये कि फिर कभी शादी की चर्चा न करें।"

आज आजी की बर्षी है।

आज फिर मेरे पड़ोस में चहल-पहल है। एक दिन और ऐसी ही चहल-पहल हुई थी, जिस दिन यह मेरी पड़ोसिन 'आजी' मरी थीं। हाँ, आज के चहल-पहल में एक अपने ढंग की हर्ष-मिश्रित उत्सुकता है, उस दिन वातावरण थोड़ा गम्भीर था, लोगों के चेहरों पर एक उदासी थी। पर उस दिन भी लोग ऐसी ही भारी संख्या में इकट्ठे हुए थे।

पर आजी कोई बहुत लोकप्रिय नहीं थीं। हाँ, उनकी निरादरी बड़ी है इससे जाति वाले सभा आए थे और उनकी ही बड़ी संख्या थी।

अभी अभी मेरे दिमाग में आजी की याद ताजी हो गई है। उनका दिव्य स्वरूप आखों के सामने आ उपस्थित हुआ है। नाटा कद, इकहरा बदन, आधी झुकी कमर, बदन पर बहुत अधिक झुर्रियाँ, बुढ़ापे के हर निशान, बाल बिल्कुल सफेद सन जैसे, माथे पर अनगिनत वक्र रेखाएं, पोपला मुंह, गालों की हड्डी उभरी हुई, आखें धँसी हुई और चमकीली, जैसे अंधेरे गढ़े में पानी पर तैरती काली गोलियाँ। और वेष-भूषा—बढ़िया किनारीदार धोती दोनों हाथों में दो सोने की चूड़ियाँ और उनके साथ दो दो कांच की, गले में सोने की हंसुली और नाक में सोने की ही लौंग।

अजनबी भी पहली बार देखता तो जान जाता कि कभी इनका भी जमाना रहा होगा, धनाढ्य रही होंगी। तभी तो अब तक, मरते दम तक यह सोने के आभूषण शरीर से नहीं उतरे।

और पड़ोसिन आजी की छाया—स्पष्ट छाया हमारे आगे साकार हो उठी। हुआ यह कि अभी ही शकुन ने पुकार कर कहा, "भइया, जरा बाहर की बिजली जलने देना, चार बिरादरी आवेंगे। दो घंटे की बात है।"

अचानक आजी की प्यारी नतिनी—इस शकुन को देखकर लगा कि आज शकुन कैसे आ गई?

"और क्या बात है, और तुम कब आई?

"अरे आजी की बरखी है न, आई हूं। न आती तो करती भी क्या! कौन है आजी का अपना जो आज उनके नाम पर एक दीपकभी तुलसीथाला पर रखता। भइया तुम तो छेदी मामा को जानते ही हो। अरे उसने तो जब आजी को जीते जी मां नहीं समझा तो भला आज मरे पर क्या करेगा। जो धन दौलत समेटनी थी समेट लिया है उसने!" शकुन यह सब एक ही सास में कह गई।

यह शकुन ही तो आजी की पीढ़ी की अंतिम कड़ी है। आजी के एक बेटा और एक बेटी थी। बेटा, छेदी था, जिससे जीते जी आजी की कभी नहीं पटी। और बेटी,वह तो पहले ही मर गई थी। हाँ,उसकी यह बेटी है शकुन। शादी को केवल दो वर्ष हुए हैं। अभी तो गोद भी नहीं भरी। आजी इसे बहुत प्यार करती थीं। बेटी को छाया समझती थीं। अपने छाती से लगाकर पाला है इसे। क्या कोई कोख की बेटी को भी ऐसे पालेगा! दो ही साल तो हुए जब ब्याह किया था। क्या ठाट से। बड़ी बरात थी, सौ आदमियों की बरात की जो खातिर की भला वह कौन भूलेगा? सभी को मालूम है कि शरबत पानी में ही सात मन बरफ गली थी। पूरे चार दिन तम्बोली अपने बोरे पर से नहीं उठा था। क्या क्या गिनाया जाय!

और इसी शकुन के प्रति प्यार के कारण ही तो छेदी से उसकी नहीं पटती थी। छेदी कहता था, "इतना सिर चढ़ाने की क्या जरूरत। लड़की-लड़की की तरह रहे! शोख तो इतनी है कि मुझे मामा तो समझती ही नहीं। जबान लड़ाने की कौन कहे, लड़ने का दम रखती है।"

छेदी के मुँह से यह निकलता नहीं कि आजी सारा घर सिर पर उठा

लेतीं, "क्या कह दिया उसे। लड़की ही तो है। कौन कहे उसे इसी घर में जिन्दगी काटनी है। अरे, लड़कियाँ कब रही हैं अपने घर में, ब्याह हुआ नहीं कि घर से नाता टूटा। मैं तो अपने चलते अपनी शकुन को कभी मन छोटा नहीं करने दूँगी। और यहां मैं नहीं प्यार करूँगी तो क्या सास-ससुर प्यार करेंगे?"

और शादी में इसीलिए तो छेदी ने एक कौड़ी भी नही लगाई। लेकिन आजी ने ही इसकी क्या चिन्ता की? एक लौंग, दो चूड़ियां और एक हंसुली अपने लिए रखकर, पांव की बिछुआ से सिर के सीसफूल गहने तक चांदी सोने से नतिनी को सजाकर जो बहुत पुराने ढंग के गहने बचे उन्हें बेच कर पूरे चार हजार की रकम निकाल ली और फिर शादी की ठाट से। बल्कि, जो सवा तीन सौ रुपये बचे ब्याह के, सो भी बिदाई के समय नातिन दामाद के ही हाथ में रखा। जिसके नाम का हो वही रखे। आजी भला क्या करतीं। और जिसने यह देखा दांतों में अंगूठा दबा लिया। एक औरत और यह करतूत! बिरादरी के बड़े बूढ़े तक भौंर गये।

और इस शादी के बाद ही तो एक घटना घटी थी। चौक में बहुत चालू सड़क पर उस सिनेमा हाउस के सामने छेदी की घड़ी की दूकान थी। बाप के जमाने की, युगों की जमी-जमाई दूकान थी। शहर के सभी बड़े वकील, कालेज के प्रोफेसरों और डाक्टरों तक की घड़ियां इसी के यहां बनने आतीं और नई भी बिकतीं। कहते हैं—घड़ीसाज और सोनार का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए, परन्तु कभी इस मामले में छेदी की शिकायत नहीं हुई। और इसी विश्वास पर ही तो उसका काम भी जमा था।

हां, तो घटना यह घटी कि शहर में जो दंगा हुआ उसने छेदी को मार डाला। किसी ने छूरा नहीं मारा और हत्या नहीं की, पर वह आठ दिनों का जो करफ्यू लगा उसमें दूकान के सामने वाला सिनेमा हाउस जला डाला गया और उसी लूट और आगजनी में छेदी की भी दूकान का भी ताला टूट गया। एक एक घड़ी और घड़ी के पट्टे तक दंगाई उठा ले गये। नई घड़ियां तो गई ही ग्राहकों की जो घड़ियां बनने और मरम्मत को आई थीं सो भी लोग उठा ले गये दूसरे दिन जाकर देखा गया तो सामान तो कुछ भी नहीं था। दिवाल पर टंगे कलैंडर और विलायती घड़ियों के आए रंगीन, विज्ञापन, भी गायब थे। आल्मारियां टूटी पड़ी थीं।

सचमुच छेदी लुट गया था। उसके इस हानि पर भला किसे दुख नहीं हुआ! छेदी तो कहता था, "मुझे मार डालते पर रोजी मार कर क्या पाया?" और छेदी के इस आर्त पुकार पर किसका हृदय नहीं भर आया था! हां, अगर, किसी का मन विचलित नहीं हुआ तो वह आजी का। संसार के लिये सदा चिन्तत रहने वाली आजी का पत्थर का कलेजा तनिक भी नहीं पसीजा, जाने वह कैसी मां थी? और जाने वह बेटा भी कैसा वज्र था कि एक बार भी स्वयं मां से कुछ नहीं कहा।

पास-पड़ोस की स्त्रियों ने भेद लेने को आजी से छेदी की दूकान लुटने की चर्चा की तो उन्होंने सिर हिला कर साफ़ कह दिया, "जो मेरी आत्मा को सताए गा उसे यही दण्ड मिलेगा।"

आजी के इस उत्तर पर भला कोई आगे क्या कहता!

और उस दिन तो गजब ही हो गया। अपनी पत्नी को उसके मायके पहुँचा कर लौटने पर जब छेदी ने कहा—"दे दो न हजार-एक रुपये। दूकान चालू हो जाय तो फिर पटा दूँगा।"

और जैसे आजी के हृदय की ज्वाला ने उसका सारा शरीर भस्म कर दिया झनझना कर वह बोली, गरज कर, "हां कमा कर घर दिया था न! कहते लाज भी न आई? हज़ारेक रुपये चाहिए सपूत को? मेरे पास धरा है जो दे दूँ?"

"उधार तो मांगता हूँ। दूकान शुरू करूँगा न!"

"शुरू कर या भट्ठी में जा। आज अपनी गरज हुई है तो आया है सगा बन कर! मैं नहीं देती, है ही नहीं मेरे पास!"

इतने पर भी क्या छेदी का दिल टूक टूक न होता! तड़प कर रह गया मन में भीतर ही भीतर मानो अहमदाबाद की किसी बड़ी मिल का ब्वायलर उबल उठा। केवल इतना ही कहा, "हां मेरे लिये तेरे पास, कभी कुछ नहीं रहा, न रहेगा। शकुन का घर भरने को सब होता है।"

शकुन का नाम लेना ही तो जहर होगया। आजी नागिन सी फुंफकार उठीं। भूल गई कि अपने पेट से जनमें बेटे को कह रही है, "हां तेरे आंख में शकुन ही तो खटकती है न! अरे तू जब अपनी बहन-बेटी को नहीं देख सकता तो औरों का क्या करेगा? एक शकुन ही तो तेरे लिये आफत है न। क्या वह तेरा दिया खाती हैं जो सदा उसे ही देख कर पेट फाड़ेता रहता है।

राक्षस कहीं का ! हाय, तू मेरे कोख से कहां से आ गया ! उस जन्म का दुश्मन ! आज से मत कभी शकुन के लिये कुछ कहना । उस बेचारी से क्या हमसे...हमसे... ?" और जैसे बजता हुआ रिकार्ड टूट जाए, आजी की जीभ में विराम लग गया । और छेदी भी कड़क कर कह ही तो उठा, "हां मैं शकुन को देख कर क्यों जलूँ ! जलन तो सचमुच तुझे देखकर होती है । चाहे मैं मर जाऊँ, पर तेरे इस हंसुली की चमक न मद्धिम हो ?"

'तू मेरे इस हंसुली पर क्यों आंखें गड़ाए है ? क्या तेरे कमाई की है ?" यह कह आजी ने आंचल से इस प्रकार अपना गला ढांक लिया कि कहीं छेदी की दृष्टि हंसुली के किसी भाग पर न पड़ जाये या वह हर न जाये ।

और वाह रे बेटा और मां । छेदी झट घर से बाहर हो गया । इस घटना के दूसरे ही दिन सबेरे — सूरज भी नहीं निकला था कि चीख चीखकर, रो रोकर आजी ने सारा टोला सिर पर उठा लिया । रात को उसके घर में चोरी हो गई । सब नगद और गहने साफ हो गए । लोगों को तो विश्वास नहीं, पर आजी तो मरते दम तक कहती गई कि चोरी छेदी ने ही करवाई थी । सचाई तो किसी को मालूम नहीं पर हां,उस दिन के बाद छेदीने घर में पांव नहीं रखा ।

बाद में सुना कि जबलपुर में वह किसी शीशे के कारखाने में नौकरी करता है और अपनी बीबी के साथ वहीं रहता है ।

और सचमुच उस चोरी ने आजी को ठूंठ बना दिया । उसी दिन से बढ़िया किनारी की धोती का स्थान मारकीन ने ले लिया । इससे यह ज्ञात हो गया कि अब आजी खुक्ख थीं, परन्तु वह हाथ की चूड़ियां, नाक की लौंग और गले की हंसुली नहीं उतरी । जिसके लिये यह सब हुआ उसे ही अब छोड़ दें ?

पर इसके बाद ही आजी में एक आदत ने घर कर लिया-उससे सभी परेशान, हम पड़ोसी परेशान; बिरादरी के लोग परेशान ! जिसके यहां भी वह आजी जातीं वह परेशान !

उस दिन मुंशी जी की पत्नी से जब नहीं रहा गया तो शायद दबी जबान कुछ कहा था । बस बड़बड़ाती हुई आजी ने पूरा दिन काट दिया—

"इस मुंशिआइन को पैसे का घमण्ड हो गया हैं । आंख मोटी हो गई है । मैंने ही तो इसकी पतोहू की चार सोहर की पर कभी तो कुछ न छुआ । आज चोर हो गई ? भला क्या मेरे घर में खाने को नहीं कि उसकी मिठाई

चुराऊंगी ! अरे यह समय खराब है, चाहे जो जिसे दबा ले नहीं तो अगर हमारे यहां भी कोई होता तो दिखा देती !" 'कोई', कहने का आजी का अपना ढंग था—"अरे, यह तो मेरा लड़का नालायक निकल गया नहीं तो भला कोई आधी जबान कह तो लेता !" लगे हाथ छेदी को भी स्मरण कर लिया आजी ने।

मुझे तो लगा कि यह आजी को तंग करने की सब बात है। पर उस दिन मेरी पत्नी ने बताया कि सचमुच इधर आजी में यह आदत बुरी तरह बढ़ गई है। मुझे जब फिर भी विश्वास न हुआ था तो पत्नी ने अपने पर घटी एक घटना बताई। कहा कि एक दिन उसके पेट में बड़ा दर्द था, वही जो अक्सर औरतों को हो जाया करता है। आजी को पेट देखने का अच्छा अभ्यास था। पत्नी ने बुलाया और दिखाया। जहां दिखाया वहीं सिरहाने पान का पूरा सराजाम रहता है। भर डिब्बा सुपाड़ी, लौंग, कत्था, चूना व और जरूरत की चीजें। पेट में तेल लगाने के बहाने ही आजी ने झट एक मुट्ठी लौंग अपने आंचल में बांध लिया। और डकरीं तक नहीं।"

मैंने पत्नी से पूछा, 'तो तुमने पकड़ा क्यों नहीं ?"

"मेरी हिम्मत नहीं पड़ी। मैंने किसी को आंख में धूल झोंक कर चोरी करते नहीं देखा था। सोचा कितने की होगी ही ! बहुत होगी, तीन आने की !" पत्नी ने कहा।

मेरे पास अब अविश्वास करने को कुछ नहीं था पर फिर भी जाने क्यों आजी के प्रति मैं अश्रद्धालु नहीं हो सका। पत्नी से फिर पूछा, "पर आखिर वह करती क्या हैं, इस प्रकार चीजें चुराकर ?"

पत्नी को जैसे सब पहले ही से मालूम था। झट बोलीं—"वह कोई अपने लिए थोड़े ही चुराती हैं। अरे शकुन के पास तुरन्त भेजती है। वह अगर पावे तो मट्टी तक लदवा कर शकुन के यहां भेज दे।"

और मैं चुप हो गया। आजी ऐसी भी हैं ? मेरा प्रश्न उत्तरहीन था। परन्तु इतना होने पर भी कोई आजी को अपने से अलग नहीं कर सका। करता तो भला कौन मुफ्त ही ब्याह शादी में दस दस और बारह बारह सेर उरद की दाल पीसता ? कौन घर में बच्चा होने पर इस डिगरीहीन पर अनुभवी लेडी डाक्टर की तरह मुफ़्त सेवा करता। कौन बीमारी में रात रात भर सिरहाने पंखा लेकर बैठता ?...और आजी की यही अच्छाई उनके दोषों पर आवरण डाले रहती।

आजी के मरने के तीन महीने पहिले की ही तो घटना है। जब मेरे मुन्ने की छठी थी। तीन दिन तक बैल की तरह आजी ने काम किया था, पर उनकी आदत! बिरादरी की ज्योनार थी। हलवाई की कोठरी में गईं और निकलीं तो मिठाई आंचल में बंधी थी। पत्नी ने आकर मेरा हाथ हिलाकर दिखाया। मैंने देखा। पर टाल जाना ही आवश्यक था। शाम को खीर बनाई जा रही थी कि आधा सेर चावल भी आजी ने बांध लिया। और यही नहीं, रात को जब मुन्ना के लिए आये सभी उपहार सजाए गए तो मेरी बहन का दिया हुआ चांदी का झुनझुना देखकर आजी ने पूछा था, "बहू यह कितने का होगा। मैं भी शकुन के लड़का होगा तो एक दूँगीं।"

"जब होगा तब कि आज ही खरीदोगी।" पत्नी ने काम की हड़बड़ी में टाल दिया।

आजी कुछ नहीं बोलीं।

पर सबेरे ही मेरी बहन ने सारा घर छान डाला। कोना कोना और हर आदमी की सन्दूक, अल्मारी सब देख डाला, पर झुनझुना गायब था। पत्नी ने साधिकार कहा, "वही आजी ले गई होंगी?"

मैं झुंझला गया, "भला वह झुनझुना खेलेंगी?"

पत्नी ने झट हाथ झटक कर कहा—हां वह तो नहीं खेलेंगी पर उसकी शकुन के बेटा होगा, वह तो खेलेगा?"

मैं इस बार निरुत्तर रहा।

बहन दुखी थी, पत्नी दुखी थी। मेरे मन के भी एक कोने में दुख था, पर मैं रह रहकर सोचता, यह अपने लिए तो चोरी नहीं करती। मेरा मुन्ना न खेलेगा झुनझुना उसकी शकुन का लड़का ही खेलेगा।

पर मेरी बहन भला यह किस मन से सोचती। उसका भतीजा बुआ का उपहार न खेले?

मैं पूछता हूँ कि आजी के मन में यह अपनी नतिनी-शकुन को सजाने बढ़ाने की जो साध है उससे कोई भी क्यों जले?

इस घटना के बाद पत्नी ने कुछ ऐसा जाल रचा कि फिर आजी को हमारी ड्योढ़ी पार करने का सुअवसर न मिला।

जब जाड़ा शुरू हुआ तो एकाएक आजी बीमार पड़ीं। लगा आज गईं, कल गईं। झट तार देकर छेदी को बुलाया गया। छेदी को जबलपुर से आना था, दो दिन लग गए। शकुन शहर में थी, झट आ पहुँची।

और इस बार शकुन आई तो बिल्कुल बदली हुई। शादी के पहिले ही वह कुछ घमण्डी थी, अब तो बुरी तरह, सदा ही अपने ससुराल की बड़प्पन में फूली रहती। किसी से सीधे मुह बात भी न करती। बीमारी में उसने कई बार चाहा कि नानी (आजी) के गले से सोने की हंसुली उतार ले पर आजी ने नहीं उतारने दिया, "जब मरने लगूंगी तो खुद ही दे दूंगी। तेरे अलावा भला मेरे कौन है?"

"नहीं, नानी मैं तो इससे कहती थी कि बेहोशी में कहीं कभी कोई...।"

"नहीं नहीं, ऐसी बेहोशी नहीं आएगी।" आजी ने कहा।

वाह रे सोने की हंसुली की माया! अर्थी पर चढ़ने को तैयार आजी ही उसका मोह न त्याग पाई और न आजी के और ससुराल के गहनों से लदी शकुन ही।

उसी दिन छेदी आया। अपने में मस्त! सोचकर आया था कि बुढ़िया मर गई होगी, पर यहां जीवित देखकर कहा, "लगता है तनिक पहले आ गया।"

लोक-लज्जा से बचने को छेदी ने डाक्टर बुलाया और दिखा दिया। डाक्टर ने कहा, "कोई खतरा नहीं!"

इस दिन ही छेदी ने काम पर लौट जाने का निश्चय किया। वहां पत्नी को अकेला छोड़ कर आया था।

परन्तु रात को ही एकाएक आजी के घर में कुहराम उठ खड़ा हुआ। आजी में तो इतनी शक्ति नहीं थी, पर शकुन ने चीख चीख कर सबकी नींद तोड़ दी कि आजी के गले की हंसुली किसी ने उतार ली। आजी लुट गई, शकुन लुट गई।

किसे कौन कहे? घर में केवल शकुन और छेदी ही थे। आजी का कहना था कि अँधेरे में वह पहचान नहीं पाई कि कौन था। शकुन का कहना था, "छेदी-मामा का तो सब किया ही है। इस प्रकार कसाई सा क्या उतारना कि गले में काला निशान बन गया। अरे मरेंगी तब सारी जमा इन्हें ही तो मिलेगी।"

पर छेदी निरीह सा स्तब्ध था। भला वह किसे क्या कहे? वह कहता था कि वह सो रहा था, कि शकुन की आवाज से जागा था। पता नहीं किसकी बात सच है पर यह तो सच है ही कि हंसुली गायब हो गई और आजी जिस गले के फूहड़पने को हंसुली से सदा ढँकती आई थी वह अब मरने के समय खाली हो गया।

और शकुन तो रात को ही चीख चिल्ला कर चुप हो गई और सबेरे छेदी उदास मन जबलपुर लौट गया।

दो दिन बाद तो आजी अच्छी हो गईं थीं, पर फिर दूसरे हफ्ते जो खाट पर गिरीं कि चार दिन में ही साफ!

शकुन तो पहले ही आ गई थी परन्तु इस बार तार देने पर भी छेदी नहीं आया। शकुन ने छेदी का बहुत आसरा देखा पर जब वह न आया तो आजी के दम छूटने के क्षण भर पहले ही शकुन ने आजी के हाथ की सोने की चूड़ियां उतारकर अपने हाथ में पहन ली।

और जब आजी मर गईं तो लगभग पचास उसी के बिरादरी के लोगों ने जुटकर उसकी अन्तिम क्रिया कर दिया। सब खर्च शकुन ने दिया। बिरादरी वालों ने शकुन की भूरि भूरि प्रशंसा की। पर शायद किसी को नहीं मालूम कि यह सारा धन शकुन का नहीं, आजी का ही था।

आजी तो चली गईं। उनकी तो बन गई पर मुहल्ले भर की बिगड़ गई। जब भी किसी के घर कोई बीमार होता, बच्चा होता या कोई तीज—त्योहार होता तो उन्हें याद किया जाता।

आज आजी की बर्सी है। शकुन ने कहा है, न भी कहती तो भी मैं आजी की खातिर बिजली के 'बिल' की चिन्ता न करके बिजली तो जलने ही देता। मेरी पत्नी आज भी मुन्ना के झुनझुना के लिये दुःखी है पर मैं उसे समझाता हूं कि जो नहीं है उसकी अच्छाई ही सोचें। और आजी चाहे जितनी बुरी रही हों, छेदी को आना चाहिए था पर अच्छा ही हुआ वह नहीं आया। शायद उसके हाथ का ब्राह्मण खाते तो आजी की आत्मा तृप्त न होती। शकुन के साथ का खाकर ब्राह्मण जो आशीर्वाद देंगे वह आजी की आत्मा को शांति देगा। परन्तु मैं चाहता हूँ कि यदि शकुन आजी के दौलत के विषय में यह न कहती कि वह छेदी ने लिया है तो ज्यादा अच्छा था।

शकुन के गले में नए ढंग का एक 'नेकलेस' चमक रहा है पर आजी की हंसुली का तो सचमुच पता नहीं। हां, आजी की हाथ की चूड़ियाँ और नाक की लौंग तो अवश्य ही शकुन का सौंदर्य बढ़ा रही हैं। क्या इतना ही आजी की आत्मा की संतुष्टि के लिए काफी नहीं?

अम्माजी

हरनामगंज स्टेशन के बाहर, जहाँ रेलवे की सरहद खतम होती है, लोहे के पतले-पतले डंडे गड़े हैं और उनमें कँटीले तार बाँध कर हद अलग की गई है। इस पार की भूमि रेलवे की, उस पार की सरकार की। उसी सरहद से दो पग की दूरी पर एक बहुत पुराना नीम का पेड़ है। कितने वर्षों से है, यह कोई नहीं बता सकता। कारण गाँव में आज जितने लोग भी हैं सभी के पैदा होने के समय यह नीम का पेड़ इसी रूप में वर्तमान था। नीम के नीचे एक पान की दूकान है, नीम के पेड़ जैसी ही पुरानी और प्रसिद्ध। अम्मा जी की दूकान! नीम के तने से लगाकर यह जो बड़ा-सा शीशा तख्त पर रखा है, वह भी फूट गया है। तीन हिस्से हो गए हैं—देखने पर तीन शकलें दिखाई पड़ती है। इसे अम्मा जी ने बहुत पहले केवल साढ़े तीन रुपये में कानपुर से मंगाया था। पीतल की एक चौकी है उस पर एक फटा कपड़ा बिछा हुआ है जो कत्था लगते-लगते बिलकुल कत्थई और काले रंग का हो गया है। दो तीन पीतल के कटोरे और एक लोटा है, जिनमें चूना कत्था आदि रहता है। दो छोटी-छोटी शीशियाँ भी हैं। एक में इलायची है, दूसरी में शायद पिपरमिंट। पर ये शीशियाँ अम्मा जी कभी-ही-कभी खोलती हैं, जब उनकी समझ का कोई बड़ा ग्राहक आता है। शीशे के बायें ओर ऊपर 'तुलसीदास'

फिल्म का कंलेन्डर, कई वर्ष पुराना—तारीख और तिथि देखने के। नहीं बल्कि तुलसीदास के भव्य चित्र के कारण टंगा है।

अम्मा जी बूढ़ी हैं, स्वभाव बड़ा नम्र है। सभी से हँस कर बोलती हैं और गुस्सा भी हों तो किससे? सभी से तो खुश रहती हैं। उन्हें दुनिया का बड़ा अनुभव है। लगातार बत्तीस वर्ष से वह यह दूकान कर रही हैं। उनका नाम शायद ही किसी को मालूम हो, क्योंकि उनसे बूढ़ा आज गांव में कोई नहीं है।

दूकान से एक फर्लांग की दूरी पर एक आधा कच्चा और आधा पक्का मकान है, यहीं अम्मा जी रहती हैं। पूरे पैंतीस वर्ष से इस घर में अम्मा जी रह रही हैं। पुराना मकान गिरने जैसा हो गया है। पर अम्मा जी के अपार स्नेह के कारण गिरने भी नहीं पाता। हर वर्ष जहाँ दो चार ईंटें सरकीं कि अम्मा जी ने दो बेलदारों को बुलवा कर गारा-मिट्टी भरवा दिया और फिर गिरना स्थगित। अम्मा जी को याद है—जिस दिन वह वधू बन कर इस घर में आई थीं। पैंतीस वर्ष का समय भी एक युग है। तब की बातें इतिहास की बातें मालूम होती हैं। लेकिन जिस इतिहास को बनाने में अपना ही पूर्ण हाथ रहा हो, भला वह भूला कैसे जा सकता है! ब्याह के पूर्व ही जब उन्हें मालूम हुआ था कि वह एक ऐसे घर में जा रही हैं जहां पति के अलावा कोई नहीं है, न ससुर न सास, तब वह फूली न समाई थीं। कर्कशा विमाता ने उन्हें इतना दबा कर रखा था कि उनका अपना आस्तित्व खोने-सा लगा था। और दिल में यही आवाज उठती थी कि 'भगवान कभी ऐसे भी दिन दिखला जब मैं भी किसी घर की पूरी तरह मालकिन बनकर शासन करूँ।' उन्हें लगता था कि भगवान ने उनकी बात सुन ली पर जब से पति के घर आकर उन्होंने उस पर शासन करना शुरू किया तो पहले साल छः महीने तो वह कुछ न बोला, पर जब नव-वधू का नयापन कम हुआ तो एक दिन विद्रोह कर उठा। बोला—"देख मुझे सताया मत कर।"

'इस घर में मेरा राज्य है और मैं जैसे चलाऊँगी चलना पड़ेगा।"

"मैं तेरे कहने पर चलने को तैयार हूं, पर मुझे सताया मत कर।"

पति की व्यथित मुद्रा देख कर अम्मा जी उस समय चुप हो गईं। पर उस दिन तो अम्मा जी के क्रोध का पूछना ही न था जिस दिन उन्हें पता लगा कि उनका पति दारू पीता है।

शाम को दिया जले उसका पति आया। पीकर आया था, छिपा न सका, दारू की गंध घर भर में छिटक गई। अम्मा जी ने सूँघा, जाना और विश्वास किया। बात बढ़े गी, इसलिए उस रात कुछ न बोलीं और चुप रहकर सुबह का इन्तजार करने लगीं। जब अँधेरा दूर हो, रात बीते, नशा उतरे।

और भोर होते ही रात की गुस्सा उतारी। जो भी मन में आया कहा और दिल हलका किया। उसका पति भी एक ही था, चुपचाप सुनता रहा। जब पत्नी को शान्त होते देखा तो कहा—"क्या करता, कल यारों के चक्कर में पड़ गया था।"

"यारों के चक्कर में?" वह चमक उठी। "क्या कोई छोटे से बच्चे हो कि चक्कर में आ गए? और कौन हैं वे तुम्हारे यार।"

"कोई नहीं—यही बुलाकी, जिऊलाल और सुराजी·······।"

"आग लगे तीनों के मुँह में। अरे, सब तो दिन भर काम करते हैं कमाते हैं, तब कहीं पीते-खाते हैं। पर तुम्हारी क्या करतूतें हैं? इतने दिन हो गए शादी को, भला कभी चार पैसे लाकर हाथ पर रखे हैं? मैं भी जानती कि कमाकर लाए हो। पर कमाने-धमाने से तुम्हें क्या? जो दो-चार पैसे गाढ़े समय के लिए रख छोड़े हैं, उन्हें भी चुरा कर ले जाओ और उस मुए शराब की भट्टी वाले महाजन की तोंद में भर आओ। जब खाने को भी न रहेगा तो देखूँगी कैसे यह गुलछर्रे उड़ाते हो! पर तुम्हें क्या, मैं जो जीती हूं, चौका बरतन करूँगी, मौज करो तुम·······।"

पत्नी की ये बातें गर्म लोहे की छड़ों सी उसके कानों में चुभ रही थीं, अब तक सुनता रहा—सहता रहा पर अब न सहा गया। चीख पड़ा—"बस बस बहुत हो चुका यदि अपने बाप का हुआ तो अब तेरा एक पैसा भी न खाऊँगा। जो लाऊँगा, उसी मे खाऊँगा। नहीं तो भूखों मरूँगा।" और एक झटके में वह बाहर चला गया। अम्मा जी ने चोर आँखों से देखा, विजय का अनुभव किया और क्षण भर के लिए एक टेढ़ी मुस्कराहट उनमें होठों के किनारों पर फैल गई। पर वह मुस्कान किसी ने न देखी। मुस्कान का अपमान था, वह भी विलीन हो गई।

अम्मा जी ने मन में सोचा—यदि सचमुच बातों का कुछ असर पड़ा हो तो बहुत अच्छा। यही वह मन में सोचती रहीं, गुनती रहीं। मन में खुशी होती है, तब सभी अच्छा लगता है। खुशी-खुशी खाना बनाया और रखकर

पति का आसरा देखने लगीं। आज मन जाने क्यों खुश था, इसलिए बड़े चाव से पति की प्रतीक्षा कर रही थीं।

बहुत रात गए वह आया। कल जैसा ही चेतना-शून्य था, पर नशे से नहीं। शाम से व्यथा और बेचैनी उसको काट रही थी। उसने कहा, "मैं खाना नहीं खाऊँगा। खाने का हमें कोई हक नहीं।"

"बड़े आए, थोड़ा सा कह दिया और बुरा लग गया। चलो खा लो तब व्याख्यान देना।" और बिल्कुल ही मन न होने पर भी पत्नी की जिद ने मुँह में ग्रास पहुँचा ही दिया। पर जो बात दिल पर असर कर जाती है वह भुलाई नहीं जा सकती।

जब दोनों खाना खा चुके, तो अपनी खाट पर बैठ कर, गोद में तकिया लेकर गम्भीरता के स्वर में पति ने पूछा, "अच्छा यह बताओ कि तुम आखिर चाहती क्या हो?"

पत्नी आँगन में एक टाट पर बैठकर धोती में पेबंद लगा रही थीं। सुन कर हाथ रुक गया। सूई धोती में ही धँस गई। पति की ओर दृष्टि घूमी। गम्भीरता का यह स्वरूप देखकर दिल में कुछ शंका हुई, पर उत्तर तो देना ही था। बोली, "मैं कुछ नहीं चाहती, बस यही कि तुम कुछ काम-काज करो। भला कैसे इतनी बड़ी जिन्दगी कटेगी। बिना रुपए के काम भी तो नहीं चल सकता। ये जमा किए रुपए कितने दिन चल सकते हैं?"

"अच्छा तो अब यही होगा। हमने निश्चय कर लिया है।"

"क्या निश्चय कर लिया?"

'यह नहीं बताऊँगा। बस तुम्हें रुपये अब मिलेंगे, बस।'

"पर बताओ क्या निश्चय कर लिया?"

"यह हरगिज नहीं बताऊँगा।"

"तुम्हें हमारी कसम है, बताओ।"

"देखो सौ बार कह दिया, कसम मत खाया करो पर तुम्हारी आदत नहीं जाती।"

"तो एक बार के कहने में क्यों नहीं बताते?"

पति क्रोध से चुप रहा, पत्नी क्षोभ से। परन्तु पलभर का सन्नाटा भी दोनों को असह्य था। कसम खाई गई थी इसलिए पति कहने को व्यग्र हुआ और पत्नी जानने को। अन्त में पत्नी ने कहा, "अच्छा आज बता दो, फिर

कभी कसम न खाऊँगी।"

"मैं कल शहर जाऊँगा।' एक दम से भड़क कर पति ने कहा।"

दिल को जैसे भारी धक्का लगा, धक् रह गया। कानो पर ऊँगली रख कर पत्नी ने कहा, "राम, राम, कैसी बात करते हो। शहर जाओगे ? नौकरी करोगे ? यह कभीं नहीं हो सकता। यहीं रहो, घर की ही सूखी रोटी मीठी होती है। शहर जो जाता है वह बिगड़ जाता है। क्या तुम्हें द्वारका पंडित की याद नहीं ? शहर में नौकरी की थी न ! यहाँ आया तो पूजा पाठ सब भूल गया था। दारू भी पीता था। एक चमारिन बैठा ली थी। कहता था अब जाति का झगड़ा नहीं है। शहर में ऊँच नीच सभी एक से रहते हैं। न, बाबा न। यह नहीं हो सकता। सुना है शहर में बाइसकोप आता है, जिसे देख कर आदमी खराब होते हैं। क्या तुम वही सब करोगे ?"

पति ने यह सुना। उदासी फिर चेहरे पर छा गई। न बताता तो अच्छा था। पत्नी सतर्क हुई। कहीं सचमुच न शहर चला जाय। आज कड़ी बातें कह कर उसने अच्छा नहीं किया, पर वह चतुर थीं। रात बड़ी देर तक जाग कर यह निश्चय किया कि पति स्टेशन पर पान की दूकान खोले, अच्छी बिक्री होगी। शहर से पान मंगा लिया जायगा और यहाँ बेचा जायगा। बीड़ी खुद बना लेंगे, दूकान अच्छी चलेगी, पैसा बढ़ेगा, आमदनी भी काफी होगी।

फिर बाँस गाड़ा गया, टट्टर की दीवार खड़ी की गई और पटरा बिछा कर दूकान की चौकी बनी। छोटे-सी दुकान अच्छी लगती थी। पहले महीने की आमदनी से चार फोटो और पीतल का लोटा आया, कत्था रखने को। दूसरे महीने की आमदनी से चौकी, तीसरे से शीशा, और फिर छः महीने में पूरी दुकान सज गई। फिर जब से दुकान पर सिगरेट भी रखी जाने लगी, तब से आमदनी का पूछना नहीं। पैसा बढ़ा। पत्नी खुश हुई, पति भी।

उस साल दशहरे पर पति ने कहा, "एक बार शहर जाने का मन है। सुना है, वहाँ की रामलीला अच्छी होती है।"

"लेकिन कभी तो गए नहीं, कैसे पता लगेगा रास्ता तुम्हें ? कहाँ रहोगे, कैसे करोगे ?"

"इसकी तुम चिन्ता न करो। द्वारका पंडित आजकल आया है। वह फौज में भरती हो गया है। सुना है बिलायत में लड़ाई हो रही है। इसीसे लोग भरती हो रहे हैं। बड़ी तनख्वाह मिलती है। द्वारका पंडित को साठ

रुपया महीना मिलता है।"

"अच्छा!"

"हाँ, तो क्या कहती हो, चला जाऊँ?"

अम्मा जी का 'हाँ' कहने का मन नहीं हुआ, पर दुकान की आमदनी के रुपये थे, कहीं पति का दिल न टूटे इससे कह दिया, "जाओ, पर एक हफ़्ते के भीतर आ जाना।"

और एकदिन निश्चय करके द्वारका पंडित के साथ वह चला। अम्मा जी ने रोकर बिदा किया। दिल में धड़कन थी, शंका थी। लेकिन विश्वास था कि पत्नी का प्रेम उसे शीघ्र ही खींच लावेगा।

शहर देखने के खुशी में उसके पति के पैर धरती पर अड़ रहे थे और द्वारका पंडित ने उसे जो बाइसकोप, थियेटर और सरकस की बातें बताईं तो उसका मन चंचल हो उठा। समझ में ही न आता था कि भला पर्दे पर तस्वीरें कैसे बोलती हैं।

और फौज में नौकरी करके, अँग्रेजों का पैसा खा कर, द्वारका पंडित उनका नमक हलाल कर रहे थे। रास्ते भर उसे समझाते रहे कि फौज में भरती हो जाओ रुपये मिलेंगे, आराम रहेगा। और मरने का क्या डर। महाभारत की तरह आमने-सामने की लड़ाई नहीं है। जमीन में छुपकर गोली चलानी पड़ती है और मरने का क्या डर! जब मौत बदी होती है तो आदमी घर में बैठे बैठे टें बोल जाता है, नहीं तो तोप के मुँह में जाकर हट्टा-कट्टा लौट आता है।

पर द्वारका पंडित की बात अच्छी लगने पर भी 'हाँ' कहने की हिम्मत उसे नहीं हो रही थी। पत्नी से जो नहीं कह आया था पर द्वारका बड़ा घाघ था बोला, "पागल हो तुम, भला स्त्री भी कभी किसी की हुई है। स्त्री तो रुपयों की साथिन होती हैं। हर महीने साठ मिलेंगे। दस रखना और पचास घर भेजना। रुपया पाकर खुश होगी, इज्जत करेगी। यों पैसा न रहेगा तो मुँह भी सीधा न करेगी।"

बातों में जोर था, असर कर गईं। फौज की बढ़ती हुई। अम्मा जी की याद कम हुई। बाइसकोप और सरकस से तबियत हरी रहने लगी।

और यहाँ बेचारी अम्मा जी ने लगातार आठ दिन तक पीपल के नीचे वाले महावीर जी के स्थान पर दीपक जला कर पति के सकुशल लौट आने की कामना की। पर जब आठवें दिन के बाद नवां, दसवाँ, और बारहवाँ फिर पूरा पखवारा

और महीना बीता तो अम्मा जी के घबड़ाहट का ठिकाना न रहा। पति के वियोग में पागल हो गईं। कुछ हाल न मिला कि क्या हुआ। कई प्रकार के अशकुन मन में आने लगे। और दूसरा पखवारा बीतते न बीतते अम्मा जी के दिल में विश्वास हो गया कि उसका पति बहक गया। पर वह करतीं क्या? पन्द्रह दिन दूकान बन्द रख कर शोक मनाया फिर खोलना ही पड़ा। दूकान, में दूकान की वस्तुओं में, ग्राहकों में, वह अपना दुःख भूलने की कोशिश करतीं।

पर जब दो महीना बीता तो एक दिन अचानक चिट्ठीरसा ने दूकान पर रुक कर अपने झोले से एक फारम निकालते हुए बताया कि उसके पति ने फौज से पचास रुपये का मनिआर्डर भेजा है। हाय! उसका पति आखिर फौज में चला ही गया। आँखों में आँसू आ गए।

डाकिए ने सान्त्वना देकर कहा कि घबड़ने की क्या बात? और रुपये पचास, कम नहीं है। उसे केवल तेइस रुपये मिलते हैं और इतना काम करना पड़ता है।

पर अम्मा जी को रुपया नहीं आदमी प्यारा था। डाकिए की सांत्वना का कुछ असर न पड़ा और उसका मतलब समझ अम्मा जी ने उसे दो बीड़े पान भेंट किए, रुपये लाने की यह बखसीस थी। गालों तले दबाकर, झोला कंधे से लटकाया और डाकिए ने अपना रास्ता लिया।

परन्तु अम्मा जी को रुपया पाकर बहुत सुख न हुआ। पति का वियोग बहुत खल रहा था और उससे भी अधिक यह कि क्या कारण था जो वह बिना बताए चला गया।

हर महीने मनीआर्डर आते। पचास-पचास के, पीछे साठ और फिर साल भर बाद पचहत्तर तक रकम पहुँची। हर महीने इस प्रकार रुपये बढ़ना अच्छा था। रकम इकट्ठी हो रही थी। पहले रुपया अरब से आता था, फिर विलायत से आया, अन्त में फ्राँस देश से रुपया आने लगा। तो क्या उसका पति फ्रांस में है! स्टेशन के बाबू से फ्रांस की दूरी पूछी तो विश्वास न हुआ। उसने कहा कि सात समुन्दर तो है ही, उसके बाद भी दूर, कई सौ मील रेल की यात्रा। पर अम्मा जी को आशा थी, जल्दी ही पति लौटेगा और इससे दूरी अधिक नहीं खली।

एक दिन एक पत्र आया। वही फ्रांस देश से। अम्मा जी ने स्टेशन के बाबू को पान खिला कर पढ़वाया। उसके पति ने लिखा था कि वह बिल्कुल

अच्छी तरह है, उसे चिन्ता न करनी चाहिये। उसे अब १००) मिलते हैं। पचीस रख कर पचहत्तर हर महीने भेजता है। उसने लिखा था कि मकान की मरम्मत करवा लेना। आंगन पक्का करवाना, चौतरा भी ऊँचा बनवाना। सामने वाले महादेव जी का थाला टूट गया था, उसे अवश्य ही पक्का कराकर उस पर छाया डलवा देना। रुपये भेजता रहेगा। हाँ, अभी आने में सालों लगेंगे। लड़ाई खत्म नहीं हुई है।

वह सन् १४ की लड़ाई का जमाना था।

अम्मा जी ने पति की हर आज्ञा का पालन किया। जैसे-जैसे लिखा था, उसी प्रकार महादेव जी का थाला और घर, दोनों पक्का कराया। पर अम्मा जी का भाग्य तो उसी दिन फूट गया था, जब बिना बताए उसका पति फौज में चला गया था। उनके हिसाब से जब पति के आने को केवल दो महीने बाकी रह गए तो एक दिन गाँव में जंगली आग की तरह यह खबर फैली कि गाँव के तीन आदमी फ्रांस की लड़ाई में मारे गए। गाँव के चार आदमी गए थे। तीन मारे गए। तीन घरों में रुलाई मची। तीन औरतें विधवा हुई, उनमें से एक अभागिन अम्मा जी भी थीं।

वह रोईं। अपने भाग्य पर आँसू बहा-बहा कर आँखें लाल कर लीं। चार दिन तक खाना न बनाया। डेढ़ वर्ष से पति के आने की आस जो दिल में ही संजोए हुए थीं, खो बैठीं। आशा गई, कुछ महीनों बाद याद भी कम हुई। पति ने उसके लिए जो दुकान खोल दी थी वही जीविका के लिए काफी थी। भारी बोझ से लदी गाड़ी की तरह आगे उसी को किसी प्रकार खींचती रहीं। जीवन की ऊबड़-खाबड़ सड़क पर यह गाड़ी आगे बढ़ चली। एक साथी था पहले, वह भी छूट गया, अब अकेले ही उसे खींचना है। सो खींच रही थीं अम्मा जी।

पर चार साल तक जीवन की गाड़ी सीधी सड़क पर खींचने के बाद एक मोड़ मिला।

पुराने स्टेशन मास्टर की बदली हो गई। दो दिन तक छोटे बाबू ने काम सम्हाला और तीसरे दिन एक नए स्टेशन मास्टर आ गए।

नए स्टेशन मास्टर स्वभाव के बड़े अच्छे थे, इससे उनकी बड़ी चर्चा चली। अम्मा जी ने भी देखा। सचमुच बड़ा सजीला जवान था। हँसमुख और बातचीत में मीठा। अंगूठे तक लम्बी बाबूनुमा धोती और आधी बाँह

की कमीज पहने, हाथ में चाभी का गुच्छा नचाता हुआ जब पहले दिन दूकान पर आया तो शरमा कर अम्मा जी ने सिर की धोती का पल्ला नीचे खींच लिया था। अम्मा जी की उम्र उस समय २५—२६ वर्ष की थी जवानी का ठहराव था। पान देते वक्त हाथों की उगलियाँ जो मिलीं तो अम्मा जी को लगा मानों शरीर में कोई बिजली दौड़ गई हो। बड़े बाबू भी एक कदम पीछे हट गए थे।

पति के शहर जाने के बाद जो आग सुलगते-सुलगते राख के नीचे दबा गई थी, लगा किसी ने उसे फूँक दिया है और राख उड़ गई है। अंगारे लाल लाल पुनः दहक उठे।

चार वर्ष तक रेगिस्तान के बीच सड़क चल रही थी, अब जो मोड़ आया तो अम्मा जी को लगा मानो हरियाली फिर शुरू हो गई हैं। अम्मा जी के जीवन में नये रस का संचार हुआ। बड़े बाबू को यह स्टेशन सबसे अच्छा लगा।

पर अभाग्य लेकर ही जो पैदा हुआ हो, उसका क्या ? सूखे खेत को लहलहाते हुये चार महीने ही बीते थे कि उस पर तुषारापात हो गया।

बड़े बाबू को यहाँ आए चार महीने हुए थे कि एक दिन तार आया और उसी रात बड़े बाबू को दूसरे स्टेशन के लिए रवाना हो जाना पड़ा। अम्मा जी के हृदय पर यह दूसरी चोट थी। मन मसोस कर रह गईं। माथा ठोंक लिया उन्होंने। अम्मा जी को जो भी मिलता है धोखा ही देता है। यह दुनिया विश्वास की नहीं है। बड़े बाबू नौकरी के लिए चले गए। उन्हें भी सच्चा प्रेम नहीं था, नहीं तो नौकरी छोड़ देते।

अम्मा जी को लगा कि सभी पुरुष अविश्वासी होते हैं। जब पति ही अपना न हुआ तो और की क्या। पति भी बिना बताए भाग गया। जानो उस पर कोई जिम्मेदारी ही नहीं थी स्टेशन मास्टर से नेह लगाया वह भी दगाबाज निकला। सोंचकर मन व्यकुल हो गया। नारी जब व्यथित होती हैं, तो सोचती अधिक है। अम्मा जी ने सोचा कि अब वह किसी पुरुष के जाल में न फँसेंगे।

पर सूना घर काटने को दौड़ता था। हृदय को किसी ऐसे सहारे की आवश्यकता थी जिस पर वह अपनी ममता उँड़ेल सके।

सीताराम एक अहीर का लड़का था, दस वर्ष का। बाप तो बहुत पहले ही मर गया था। मां ने किसी प्रकार पाला। और इस साल वह भी चल बसी। सीताराम को कोई न रहा। गाँव वालों के आग्रह और अपना भी स्वार्थ देख कर अम्मा जी ने उसे अपने यहाँ रख लिया। एक से दो भले।

सीताराम रोज जब गाड़ी आती तो एक पीतल की थाल में पान बीड़ी और सिगरेट तथा कुछ कटी हुई सुपाड़ी रख कर स्टेशन ले जाता और पांच मिनट में ही, जब तक गाड़ी खड़ी रहती, वह आठ-दस आने पैसे उतार लाता। अम्मा जी उसके कामों से खुश थीं। पर वह भी साल भर से अधिक न टिका। जब अपना ही अपना न हुआ तो पराया क्या होता। एक दिन अम्मा जी जब घर पर ही थीं कि दुकान के गुल्लक से तीन रुपये निकाल, टेंट के हवाले कर पीतल की थाल में पान बीड़ी लगा सीताराम स्टेशन गया और जाने क्या नियत थी कि पान बेचते-बेचते गाड़ी पर सवार होकर शहर भाग गया।

शाम तक न लौटा तब स्टेशन आकर पता लगाया। खलासी ने बताया कि उसने सीताराम को शहर की ओर जाने वाली गाड़ी पर सवार होते देखा है। शहर का नाम सुनते ही मानो अम्मा जी सब कुछ समझ गईं।

बिना कुछ कहे-सुने घर लौट आईं। अब किसी पर विश्वास न करेंगी मन ही मन निश्चय किया। पति और बड़े बाबू ने तो धोखा दिया ही था। सीताराम भी बदमाश ही निकला। परन्तु सीताराम को तो उसने पुत्र की तरह पाला था। मां का सच्चा प्रेम भी उसे न जीत सका। उसी ने 'अम्मा जी' कह कर उन्हें गाँव भर की अम्मा जी बना दिया। अब उनके लिए और कोई चारा न था। गाँव में अब वह किसी की अम्मा जी के अलावा और दूसरी कुछ नहीं बन सकती थीं।

पूरे छब्बीस वर्ष बाद। अब अम्मा जी भी बूढ़ी हो गई थीं। पर दूकान ज्योंकि-त्यों थी। उसी प्रकार चलती थी। गांव पहले से अधिक फैल गया है। स्टेशन भी बड़ा बन गया है। स्टेशन पर दो हलवाई और एक बनिया की दूकान खुल गई थी। गांव के लोगों में पहले से अधिक जागृति आ गई थी। कांग्रेस और सरकार का झगड़ा भी सबको मालूम हो गया था।

अम्मा जी की दूकान पर भी बैठ कर कुछ युवक बीड़ी पीते हुए बातें करते थे। गांधी बाबा ने हुकुम कर दिया है कि अंग्रेजों को भगा दो तो स्वराज्य मिल जाय।

"पर यह स्वराज्य क्या है?" अम्मा जी बीच में पूछतीं।

"यही अपना राज्य! पुलिस, दरोगा अपने। राजा अपना। खेत-बारी

अपने। रेल-स्टेशन अपने।"

"पर अंगरेज बड़े चतुर हैं, वे किसी प्रकार नहीं जाने के।"

"वाह जाना पड़ेगा उन्हें। गांधी बाबा ने हमारी आखें खोल दी हैं, हम अपने राजा खुद बनावेंगे।" एक युवक ने तपाक से कहा।

और गरमा-गरम बहस के बीच अम्मा जी ने भी जाना कि गांधी बाबा बड़े अच्छे हैं।

सन् ४२ के विद्रोह की चिनगारी चारों ओर फैल गई। गाड़ी का आना जाना चार दिन से बन्द था। सुनने में आया कि शहर में अंग्रेजों को निकालने के लिए लड़ाई शुरू हो गई है। गांव में अगर लड़ाई हो तो सब को तैयार रहना चाहिए।

उस समय दिन को दस बजे थे। एकाएक रेल की पटरी की ओर से शोर सुनाई पड़ा गाँव वालों ने आगे बढ़कर देखा कि बहुत से शहर के लड़के हैं। शोर मचाते, तूफान की तरह बढ़े आ रहे हैं। सुराजी झंडा भी साथ था।

गांव वालों ने समझा झंझट है। अलग खड़े हो गए। सभी भीड़ आकर प्लेटफार्म पर रुकी। दो तीन लड़के, जो अगुआ थे स्टेशन मास्टर के कमरे में घुस गए, शायद कुछ बात करने। और तीन चार बढ़कर पान खाने अम्मा जी तक आए।

पान लगाते हुए अम्मा जी ने पूछा—"तुम पंचन काहे आए हो।"

"हम स्वराज्य लेने आए हैं।" एक ने कहा।

"ई कैसा स्वराज ?"

"स्टेशन लूटेंगे,पटरी तोड़ेंगे, थाना छीनेंगे,और अपना राज्य जमाएंगे।"

"तो का सिपाही थाना दै देहैं। इहाँ का दरोगा ज़ालिम सिंह बड़ा बीहड़ है।"

"होगा, हम तो लड़ने आए हैं। देखें कैसे नहीं देगा।"

"तो का उनके बन्दूखों से डर नाहीं लागत?" हाथ रोक कर अम्मा जी ने पूछा।

"बंदूक क्या, जब लड़ना है तो मरने का क्या डर ?"

"लेकिन ई खून खराबी ठीक नहीं। गांधी बाबा तो खून खराबी नहीं चाहत हैं।"

"लेकिन यह गांधी जी का ही हुकुम है ?"

तभी भीड़ में से "गांधी जी की जय" की आवाज आई।

अम्मा जी ने आश्चर्य से देखा। गांधी जी का हुक्म सुन कर बोल न

निकला। गांधी जी ने जो कहा है वह अवश्य होना चाहिए।

पान खाकर सिगरेट जलाकर लड़के स्टेशन की ओर मुड़े। दूकान पर झटपट टट्टर लगा अम्मा जी भी घर की ओर बढ़ गई। आज सुराज मिलेगा खुशी से अम्मा जी का चेहरा लाल था।

अपने घर के चौतरे से उन्होंने सब देखा। स्टेशन लूटा गया। बड़े बाबू के कमरे में आग लगाई गई। सारा स्टेशन जल उठा। भीड़ थाने की ओर दौड़ी। जम के लड़ाई हुई। छोटा दरोगा घोड़े पर, खबर देने शहर भागा। बड़े दरोगा को बांधकर पीटा गया। बड़ा जालिम था, अच्छी सजा मिली। गांधी जी को मन ही मन अम्मा जी ने प्रणाम किया।

शाम हुई तो घर में घी के दिये जलाकर अम्मा जी ने सुराज की घोषणा की और सुख की नींद सोई। नींद भी अच्छी आई। निश्चित थी, पुलिस दरोगा सभी मुफ़्त पान खाते थे, बीड़ी पीते थे। बुढ़िया की आत्मा दुखाने से यही होता है। हराम का पैसा खाने का यही फल होता है।

पर जब अम्मा जी सुबह उठीं और स्वराज्य का दिन देखने बाहर आईं तो कुछ समझ में न आया। यह तो सारा वातावरण ही बदल गया था सारे गांव पर मिलेटरी का, फौज का राज्य था। वह खड़ी देख ही रही थी कि पाँच छ; फौजी उसी तरफ आए। दो गोरे और बाकी काले हिन्दुस्तानी। अंग्रेज अफसर ने देखकर कहा, "यह औरत से पूछो!"

हुक्म पाकर एक सिपाही पास आया, पूछा, "क्यों बताओ, यह सब किसने किया।"

"हम क्या पहचानते हैं? गांधी बाबा का हुकुम था।"

"यह जानता है, पकड़ लो इसको।" अँग्रेज अफसर, गांधी का नाम सुनकर भभक उठा। सिपाहियों ने अम्मा जी को घेर लिया।

"इसका घर का तालाशी लो।" हठीले अँग्रेज अफसर ने फिर हुक्म दिया। और सिपाही घर भर में फैल गए। बागियों को ढूंढने में हाड़ी और बरतन फोड़ डाले। सारा घर तहस-नहस कर डाला। अम्मा जी चीख उठीं, "यह क्या करते हो।" और भीतर दौड़ी। पर अँग्रेज अफसर ने ऐसा धक्का दिया कि वह गिर पड़ी।

सिपाहियों को कुछ न मिला। इस पर वे झुँझला कर अम्मा जी को थाने पकड़ ले गए। रास्ते में अम्मा जी ने देखा—गाँव के सभी घर तहस-

नहस किए जा रहे थे। रास्ते में पान की दुकान थी। देखकर ममता उमड़ आई। दौड़ कर टट्टर पकड़ लिया और न छोड़ा। अफसरों को जब मालूम हुआ कि दुकान इसी की है तो उसे लूट लेने का हुक्म दिया। सिपाहियों ने दुकान के टट्टर काट डाले। चीजें लूट लीं। दुकान गिरा दी गई। और अम्मा जी को घसीट कर थाने पर पहुँचाया गया।

दरोगा, कल की मार से जिसकी देह अब तक फूली थी, बोला, "हुजूर इसी की दुकान पर सबों ने पान खाया था।"

"तब इसको जरूर मालूम होगा।" कुर्सी पर बैठ, सिगार पीते हुए अँग्रेज़ अफसर ने कहा।

"दूसरे ने पूछा—'बताओ कौन-कौन था कल?"

"हमें क्या मालूम कौन था।"

"जानती है तू बता!"

"मैं नहीं जानती," अम्मा जी के न बताने पर मार पड़ी। मुँह से खून गिरा। पर वह बतातीं भी तो क्या। अफसर ने देखा कहीं मर न जाय। कहा, "मारो नहीं, बन्द कर दो।"

सिपाहियों ने घसीट कर हवालात के कटघरे में पहुँचा दिया, और भीतर ढकेल कर ताला लगा दिया। दिन भर अम्मा जी बेहोश रहीं। शाम को होश आया तो शरीर की नस मार से दर्द कर रही थी। अम्मा जी कलपीं, आँखों में आँसू आए। मुँह से श्राप निकला—'गोरों का जल्दी नाश हो।"

शाम को दुबारा पूछे जाने पर भी अम्मा जी ने कुछ भी बताने से इन्कार किया। अफसर निराश हुआ। हार कर हुक्म दिया, "छोड़ दो।"

शाम का अँधेरा चारों ओर छा रहा था। सन्नाटे से वह और भी घना हो उठा। गाँव में एक भी जन नहीं। कुछ भाग गए,बाकी हवालत में। किसी का कुछ पता नहीं। कहाँ जाएँ, क्या करें। न दुकान थी न घर। दोनों का नाश हो चुका था। हार कर चारों ओर फटी आँखों से देखा। दूकान के टूटे पटरों पर आकर वह बैठ गई। सोचा—क्या सभी फौजी ऐसे ही अत्याचारी होते हैं; अवश्य होते होंगे। तभी तो फौज में ही जाने के कारण तो उसका पति इतना निर्मम बन गया कि उसकी सुधि बिसरा दी।

फौजी ही नहीं, सभी पुरुष ऐसे ही अत्याचारी होते हैं। पति, बड़े बाबू, दोनों की तस्वीर एक एक करके अम्मा जी की आँखों के आगे नाच गई।

बाँके

दिन ढल चुका था अब सुभागी का दिल भी बैठने लगा। पुआल के बोझ को समेट कर बांधते हुए उसने घबड़ाई आंखों से चारों ओर देखा। शाम का अँधेरा, जो अभी तक पेड़ों के नीचे ही सिमटा हुआ था अब इधर उधर भाग कर सारी दुनिया में छाने लगा था। सन्नाटा सजीव हो पीछे की पहाड़ी से उतर कर गांवों की गलियों तक में बसने लगा था।

बोझ को बांध कर, पहले हाथों से थोड़ा उठा कर साधा, फिर झुक कर उठाया और सिर पर लाद लिया। पांव अपने-आप ही घर की ओर चल पड़े। अब घर चलना होगा। सुभागी का जी सूखने लगा। जब तक वह खेत में काम करती है, खुश रहती है। गाय और बैलों के लिए शाम को एक बोझ पुआल लेती जाती है, बस इतना ही उसका काम है। उसका पति हट्टा-कट्टा सजीला जवान है। हाथी जैसे मस्त दो बैल हैं, एक गाड़ी। स्टेशन तीन मील पर है। सबेरा होते ही वह दोपहर के लिए परोठे बांध कर गाड़ी ले कर स्टेशन चल देता है। महजनों के बोरे ढोकर दिन भर में दो-ढाई रुपये उतार लाता है। इतना कम नहीं है। बैलों के लिए हर हाट को खरी और भूसा खरीद लेता है। सुभागी ने सोचा, अब शाम हो गई है, पति भी आ गया होगा। आज उसे देर हो गई। अब तक वह रोज पहुँच जाती

थी। पति उसे बहुत प्यार करता है—जीवन का यही एक मोह है उसे। यदि पति ऐसा न होता तो वह कभी जीवित नहीं रह सकती थी। और उसकी सास! सोचते ही उसके रोंगटे खड़े हो गए। राक्षसी-सा स्वभाव है उसका। उसी की बदौलत गांव भर में यह चर्चा हो गई है कि सुभागी बांझ है! बांझ है!! जाने किस नाप-तोल से उसकी सास ने यह निश्चय कर लिया है। क्या उसकी उम्र बीत गई कि यह निश्चय कर दिया गया कि वह बांझ है? अभी केवल अठारह बरस की ही तो है। वह ऐसी भी बहुत-सी लड़कियों को जानती है जिनकी उम्र अठारह क्या उन्नीस वर्ष की है और अभी उनका ब्याह भी नहीं हुआ है।

पर उसकी सास जो उसे बांझ कहती है उसका कारण भी है। वह रह-रह कर बुलाकी की पतोहू का नाम लेती है। उदाहरण देती है कि उसकी शादी भी लछुमन के संग ही हुई थी—दो महीने बाद ही—पर तीन वर्ष में उसके दो बच्चे हुए और यहां एक भी नहीं। गोद में पोता खेलाने की उसकी चाह दिन पर दिन पुरानी पड़ती जा रही है। उसका आंगन रोज पहले से अधिक सूना होता जा रहा है। पर इसमें बेचारी सुभागी का क्या दोष? ऐसा तो है नहीं कि उसे पुत्र की चाह न हो पर वह कर ही क्या सकती है?

सोचती हुई सुभागी रास्ता नाप रही थी। अंधेरा बढ़ा, दिल की धड़कन तेज हुई। सामने घर दिखाई पड़ा। गाड़ी खुली, दरवाजे पर लगी थी। समझ गई, पति आ गया है। दोनों बैल खूंटे पर बंधे, गली की ओर निहार रहे थे; सुभागी की राह देख रहे थे। पहुँचते ही बैलों की हुंकार उसे सुनाई दी। सारी बातें भूल गई। बोझ पटक कर झटपट खोला और आधा-आधा दोनों के आगे डाल दिया। गाय ने नांद से सिर भी नहीं निकाला। लगता था, उसे आज सानी मिली गई थी। सो पुआल डाल कर बैलों की पीठ पर अपना हाथ थपथपा कर भीतर चली। अंधेरा था, लगता था कि अभी दीपक भी नहीं जलाया गया। यह बड़ा बुरा लगा सुभागी को, यदि उसे एक दिन देर हो गई तो सारा काम पड़ा रह गया। दिल में जलन और मस्तिष्क में झुंझलाहट लादे उसने अन्दर पांव रक्खा। बरोठा पार करने लगी तो पांव में ठोकर लगी। अरे यह तो घड़ा रक्खा था, लुढ़क कर फूट गया। सुभागी का जी घबड़ाने लगा। तभी सास चीख उठी, "हाय, मेरे करम में

यही कुलच्छनी बदी थी ? अरे, घड़ा भी फोड़ डाला। पानी भी अब एक बूंद नहीं है। सारी रात किस प्रकार कटेगी। देख कर नहीं चलती। अब पानी रात को कौन लावेगा ? एक घड़ा भी खरीदना पड़ेगा। दो आने भी कुछ होते हैं। रोज ही तो एक फोड़ती है। और आज कहां लगा दी इतनी देर ? घर का सारा काम पड़ा है।"

सुन कर सुभागी का जी जल उठा, लगा कि कह दे कि क्या सारे कामों की जिम्मेदारी हमारे ऊपर ही है ? पर चुप रही तभी तक भीतर के अंधेरे कोठे से लछमन बोल उठा, "अरे चुप भी रहो अम्मां ? बड़बड़ाने की तो तुम्हारी आदत है। अपनी गलती को न कहोगी, क्यों रास्ते में घड़ा रक्खा था ? भला अंधेरे में कोई कैसे देखे ? कहता हुआ वह कोठे से निकल कर सुभागी के पास आ कर बोला, "तुम्हें तो चोट नहीं लगी ?"

"पहले से ही पानी गिरा था, इतना सटक हो गया है कि पांव अवश्य ही बिछल जाएंगे। तुम देख कर आना, कहीं गिरो न ?" सुभागी ने पति से कहा।

"मेरी चिन्ता न करो, तुम्हें चोट तो नहीं लगी ?"

सुभागी ने कुछ कहा नहीं, केवल सिर हिला दिया और चुपचाप अपने कोठे की ओर बढ़ गई। मां को पत्नी के प्रति बेटे का यह पक्षपात अच्छा न लगा। बिगड़ उठीं, "अरे इसीलिए तो हम कभी बोलते नहीं। हमसे क्या मतलब, चाहे जो करो। हां, पानी एक बूँद भी घर में नहीं है। वही घड़ा था, सो भी फोड़ डाला। अब जा कर ले आओ पानी।"

"पर मां, वह इतनी रात को कुएं पर अंधेरे में पानी भरने कैसे जायगी ? फूट गया घड़ा, फूट जाने दो। आज भर काम चला लो, कल नया आ जायगा !"

सुभागी अब तक कपड़े बदल कर रसोई घर की ओर बढ़ी और खाना बनाने का प्रबन्ध करने लगी। सास ने फिर बड़बड़ाना शुरू किया। चूल्हे में लकड़ी लगा कर आग जलाते हुए सुभागी ने इतनी जोरों से फूँकना शुरू किया कि सास की बातें उसकी कानों तक न पहुँचीं। उसके लिए यही एक सहारा है कि वह सास की बातें न सुने।

लछमन खा चुका तो बाहर आ मचिया पर बैठ कर बीड़ी पीने लगा। सुभागी ने सास को भी खिलाया, फिर स्वयं खाने को थाल संजोया और

चौके में ही एक कोने में सरक कर बैठ गई। खा चुकने पर सास ने सुभागी के कामों का निरीक्षण शुरू किया। देखा, सब दुरुस्त था। पर वह बड़बड़ाना चाहती थी, कोई कारण नहीं मिल रहा था। एकाएक एक उपाय सूझा-कहा, "जाने तुझे खाने में कितनी देरी लगती है। तभी तो घर का सारा काम पड़ा रह जाता है।"

सुन कर सुभागी का हाथ रुक गया। थाल सरका कर उठ खड़ी हुई। ऐसे खाने पर लानत है। पर कुछ बोली नहीं, पानी के स्थान पर खून का घूंट पी कर रह गई।

लछुमन ने सुना तो पुकार कर कहा, "क्यों अम्मां, तुम सदा घर में बांस गाड़े रहती हो? अरे यह तो उस लड़की का अभाग्य है कि इस घर में आई और तुम जैसी सास पाया।"

बात बढ़ेगी, जान कर लछुमन की अम्मां चुप रही।

रात गए सुभामी ने आंगन में अपनी खाट बिछाई। दरवाजे के पास सास सोती है और बाहर नीम के नीचे पति। सुभागी की आंख लग गई थी, पर एकाएक नींद खुल गई। देखा, सास की खाट खाली है। आश्चर्य हुआ, इधर-उधर देखा पर दिखाई न पड़ी। पर ऐसा लगा मानो उसके पति से वह कुछ कह रही है। कान लगाया, साफ सुनाई पड़ने लगा। सास कह रही थी, "बहू सो रही है। दिन को मौका नहीं मिलता। कहो तो अभी बताऊँ?"

"बताओ!" यह पति की आवाज़ थी।

"हमें विश्वास हो गया है कि इससे सन्तान नहीं होने को। और यदि कुछ प्रबन्ध न करोगे तो हमारा घर इसी प्रकार सूना पड़ा रहेगा। हमारे घर के आंगन में कभी बच्चे न खेल पावेंगे। देखो न, वो बिरजू की लड़की लच्छो बड़ी हो गई है, ब्याहने लायक। हमारा मन है तुम उसी से ब्याह कर लो। बिरजू अपना खेत भी नाम लिखने को तैयार है और कौन है उसके जिसके लिए न लिखे। और लड़की भी अच्छी सुघड़ और खूबसूरत है।"

"लेकिन अम्माँ, कैसे जान लिया कि इसे सन्तान न होगी?" बेटे ने पूछा।

"सुबह को देख कर दिन का पता चलता है। जब तीन साल हो गए न हुआ तो कब होगा। बुलाकी के लड़के की शादी तुम्हारे साथ ही हुई थी।

देखो उसके दो बच्चे हो गए और सुना है उसकी बहू के फिर पांव भारी हैं।"

"पर अम्मां, समय आवेगा तो सब होगा।"

"तुम मेरी न मानोगे, बेटा ?" निराशा की सांस के साथ उसने कहा और उठ कर अपनी खाट पर आ गई।

सुभागी ने सोने का अभिनय किया, पर सो न सकी। यह क्या हो रहा है ? दूसरे ब्याह की चर्चा—लच्छी ! लच्छी !! उसका सिर चकराने लगा। वह जानती थी कि उसका पति उसे बहुत प्यार करता है और कभी दूसरा ब्याह न करेगा, पर यह भी जानती थी कि बीज बो देने के बाद जब भी ठीक वातारण मिलेगा अंकुर अवश्य ही पैदा होगा।

तो क्या सचमुच यदि सन्तान न हुई तो लछुमन दूसरा ब्याह करेगा ? उसपर चिन्ता सवार हो गई। बाकी रात भी उसने जाग कर काटी।

सवेरे वह सब के पहले ही उठी। नींद न आने से वह सवेरा होने की बार-बार उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रही थी। जल्दी जल्दी वह अपना काम निबटाने लगी। पति के लिए परोठे बनाये, बैंगन भून कर भरता बनाया। दोपहर के लिए पति उसे स्टेशन ले जाएगा। फिर कुंए पर जाकर पानी लाई। घर के सभी हंडे-मटकों को भरा, कपड़े साफ किए। जल्द से जल्द खेत चले जाने का प्रबन्ध करने लगी। घर की कड़वी याद वह खेत में ही जा कर भूल पाती है।

सास रसोई-घर में थी। पति स्टेशन जाने को तैयार हो गया, बैलों को गाड़ी में जोत चुका था। गोबर बिन कर आते हुए सुभागी ने यह देखा। गोबर लाकर टोकरी समेत आंगन में रख दिया। यह काम उसका था और गोइठे पाथना उसकी सास का। जब वह खेत चली जावेगी तो सास गोंइठे पाथेगी। पति को कुछ और आवश्यकता न हो इसके लिये वह कोठे में घुसी। देखा पति खूँटी पर से गाड़ी हांकने को पैना उतार रहा था। पैना उतार कर जब वह घूमा तो सुभागी भीतर घुस रही थी। देख कर लछुमन मुस्करा पड़ा, उसे आशा थी सुभागी भी रोज की तरह मुस्करा कर ही उसे बिदा करेगी। पर आज सुभागी मुस्करा न पाई। एक आग जो रात को सुलगी थी अब उससे लपटें निकलने लगी थीं। लछमन को सुभागी के आज के व्यवहार पर आश्चर्य हुआ। पास आकर सुभागी के सामने खड़ा हो गया, शासन के स्वर में कहा, "सुभागी ?"

सुभागी ने ऊपर ताका। दोनों हाथों को पति की छाती पर रखकर उसे धक्का दिया। और कहा, "अब हमारा क्या, तुम तो लच्छो से ब्याह करो।" और कहती हुई आगे बढ़ गई।

लछुमन एक कदम पीछे खिसक गया। तो क्या कल की बात इसने सुन ली है? मां पर क्रोध आया। चाहा कि आगे बढ़ कर सुभागी से बातें करे और मन साफ कर दे पर यह अवसर न था। कटते हुए दिल के साथ ही वह बाहर निकला। चुपचाप गाड़ी घुमाई और बैलों की पूँछ उमेठ कर उनकी चाल तेज की और तेज चाल में हवा का जो झोंका आया उससे उसे बड़ी शान्ति मिली।

घर का काम समाप्त करके सुभागी खेत गई। काम रोज की तरह चलने लगा। पर सुभागी का मन न लगा। वह एक टेसू के पेड़ तले बैठ कर अपना धुंधला भविष्य सोचने लगी। तो अब घर की मालकिन लच्छो होगी, पति दूसरा ब्याह करेगा। जीते जी सौत का मुंह देखना पड़ेगा। ब्याह की तैयारियों में योग देना पड़ेगा। फिर सुभागी एक नौकरानी से अधिक और कुछ न रहेगी। पर क्या उसका पति यह मंजूर करेगा? लछुमन का प्यार क्या दिखावटी ही था? कुछ समझ में न आया। सुभागी ने निश्चय किया कि अब वह यह नहीं होने दे सकती यदि ऐसा ही होगा तो वह इसके पूर्व ही अपनी जान दे देगी।

सोचती हुई भारी मन से वह दिन भर काम करती रही। शाम को घर जाने की तैयारी में वह पुआल इकट्ठा कर रही थी कि उसकी आंखें आश्चर्य से फैल गई जब लछुमन ने उसे पीछे से पुकारा। यह आज क्या? इतनी जल्दी कैसे आ गए! पूछ न सकी। पर आंखो के भावों को देख कर लछुमन ने स्वयं ही कहा, "तुम्हें चकित होने की दरकार नहीं है। आज काम अधिक नहीं मिला। घर चला आया। सोचा तुम्हारा दिमाग ठीक कर दूं।"

"क्या हुआ है हमारे दिमाग में?"

"यही तो बताना है।" कह कर धम्म से लछुमन पुआल के ढेर पर लुढ़क रहा।

"अच्छा तो अलग बैठो। नहीं तो अभी देर हो जायगी तो घर का दीया भी न जलाया जायगा।"

"भाड़ में जाय दीया और घर, तुम यहां बैठो।" कहते हुए सुभागी का हाथ खींच लिया लछुमन ने और उसे बैठना पड़ा। लछुमन ने कहा कि सुभागी को रत्ती भर भी चिन्ता न करना चाहिए। वह कभी विवाह न करेगा।

"पर यदि हमारे सन्तान न हुई तो क्या वंश का नाम समाप्त करोगे?"

"देखा जायगा, यदि भगवान की यही मरजी होगी तो किसी के किए कुछ न होगा।"

"लेकिन तुम्हारी अम्मां...... "

"अरे, छोड़ो भी! देखो आज बादल आ रहे हैं। अच्छा है पानी बरसे। पन्द्रह दिन से बड़ी गरमी थी।"

"देखो बातें न बदलो। जब शुरू किया है तो एक फैसला कर ही लो।"

"सब तय है, तुम चिन्ता न करो और अम्मां की बात का ख्याल भी मत करो तुम, वह पागल है।"

लाचार हो सुभागी चुप हो गई। आकाश देखते-देखते काला हो गया। अंधेरा छा गया। ठण्डी हवा का एक झोंका आया और मौसम भर की गरमी भूल गई। बात का सिलसिला तोड़ कर सुभागी ने कहा, "पानी आ गया तो पुआल भी भीग जायगा और घर चलना भी मुश्किल होगा।"

एक पुआल के डंठल को दांतो से कुचलते हुए लछमन अलग हो गया। सुभागी ने पुआल इकट्ठा करके बांधा और सिर पर लाद कर घर की ओर चली। आगे-आगे लछुमन था। पर घर पहुँचते न पहुँचते पानी आ ही गया। सुभागी और लछमन दोनों भींग गए। लछुमन की अम्मां द्वार पर ही खड़ी थी। देखते ही बोली, "लछुमन भीग गया? कहीं बुखार आ गया तो? चल जल्दी से कपड़े बदल डाल।" सुभागी की ओर एक दृष्टि भी न डाली।

सुभागी का जी बैठने लगा। उसे यह अनादर असह्य हो रहा था। पति तेजी से कोठे की ओर बढ़ गया।

"और देख!" सुभागी को सम्बोधित करके सास ने कहा।

"हाँ"

"बछड़े का पता नहीं है। गाय तो यहां है, पता नहीं वह कहां पानी में पड़ा हो?"

सुनते ही सुभागी का क्रोध भभक उठा, "खलिहान में होगा और क्या ?"

"तो जा लेती आ, नहीं तो सर्दी लग जायगी ।"

बिना सोचे-बिचारे ही सुभागी खलिहान की ओर चल पड़ी । मूसलाधार वर्षा से उसके कपड़े तर हो गए थे । खलिहान में पड़ा बछड़ा भीतर था । खोला और घर की ओर चली, बछड़े को गोद में लेकर ।

लछुमन को जब पता लगा कि इस वर्षा में अम्मा ने सुभागी को बछड़ा लाने खलिहान भेजा है तो वह बिगड़ उठा—"क्यों अम्मां, देखती हो कितनी तेज वर्षा हो रही है और उसे खलिहान भेज दिया !"

"बछड़ा नहीं आया था । पानी में भीग जो जायगा !"

"और वह तो छाता लगा कर गई है न !" व्यंग के स्वर में लछुमन ने कहा और घर के बाहर हो गया ।

मां की यह भी हार हुई । बाँझ पर इतना घमंड ! मन-ही-मन कहने लगी, "अच्छी बात है, न महीने भर बाद लच्छी को लाकर बैठा दिया तो मेरा नाम नहीं । तब देखूंगी कहां से यही प्रेम रहता है ।"

जाने किस राह लछुमन गया कि उससे सुभागी से भेंट न हुई और वह लौट आई । लछुमन को जब खलिहान में सुभागी न मिली तो वह चिन्तित हुआ । भागा-भागा घर आया तो सुभागी आ चुकी थी । उस दिन लछुमन का दिल बड़ा उदास रहा, वह खाना भी न खा सका ।

रात पानी बरसने के कारण लछुमन और सुभागी कोठे में ही सोए । सुभागी ने कहा, "पर तुम्हारी मां तो दूसरा ब्याह रचावेंगी ही ।"

"अरे उनका क्या, जब हम करेंगे तब तो । और हमें विश्वास है तुम्हें सन्तान होगी—समय आने दो ।"

सुभागी कुछ न बोली—उसकी कुछ समझ में न आया । लछुमन ने एकदम से सुभागी का हाथ हिलाते हुए कहा, "अच्छा दीया तो बुझा दो ; अच्छा नहीं लग रहा है यह उजाला ।"

चोर आंखों से देख कर सुभागी क्षण भर को मुस्कुराई और उसकी मुस्कुराहट भी रोशनी के साथ ही समाप्त हो गई । कोठा काला हो उठा, पर पता नहीं क्यों, आज सुभागी और लछमन के दिल में एक प्रकार का उल्लास था, जो अपूर्व था ।

दूसरे दिन बेबात की बात पर बिगड़ कर मां ने कहा, "चाहे जो कुछ भी हो, हम तो बिरजू से कहला देते हैं कि हम रिश्ता करेंगे।"

"नहीं मां ऐसा न होगा!" लछुमन अब भी दृढ़ था।

और लगभग दो महीने बीते थे कि एक रात प्रफुल्ल मन से सुभागी ने अपने पति को सूचना दी, "हमने मानता मानी थी। सवा पांच सेर लड्डू चढ़ाना है, महावीर जी को। प्रबन्ध करो।"

"क्यों क्या हुआ?" पति को आश्चर्य था।

"शायद तुम्हें दूसरी शादी न करनी पड़े।"

"सच!" लछुमन उछल पड़ा।

तीसरे दिन सास ने कहा, "बहू, तुम बहुत काम न किया करो। आज पानी भरने हम जाएंगे।"

यह परिवर्तन बड़ा आश्चर्यजनक था। सुभागी मन ही मन रानी हो रही थी।

पानी भर कर लौटते हुए एक पड़ोसिन ने जब लछुमन की मां को टोका कि कब पक्का कर रही हो ब्याह, तो चमक उठी, "क्या कई ब्याह करना जरूरी ही है?"

"तो क्या तुम्हें भी सुभागी के बांझपन की फिकर नहीं है?"

"कौन कहता है कि सुभागी बांझ है? खबरदार जो कभी सुना। किसी के लिए झूठा शोर मचाना आसान है। सुभागी लक्ष्मी है। देख लेना आठ महीने बाद।"

गांव की अन्य औरतों को इस हृदय-परिवर्तन पर बड़ा आश्चर्य था।

बिरजू की स्त्री ने सुना तो सिर पीट लिया, "बड़ा धोखा हुआ। लछुमन के आसरे में ही किशनपुर का रिश्ता भी छोड़ दिया। अब क्या होगा। सुना है सुभागी के पांव भारी हैं।"

बेटे का
इलाज

वकील साहब क्रोध में बकते जा रहे थे,

"....और देखो इस तरह मेरा सिर मत चाटो, मुझे तुम्हारी तरह घर में बन्द नहीं रहना पड़ता, मेरे पास दुनिया भर का काम है। दिन भर कचहरी और शाम को 'समाज-सेवक-संघ' का काम करना पड़ता है। भला तुम्हीं बताओ न कि हमें कब फुर्सत है?"

और वकील साहब जब नाराज होते रहते तब उनकी पत्नी सुलक्ष्मी मौन हो जाती। वह जानती थी कि कांग्रेस का काम करते करते इस नेता को भाषण देने की जो आदत पड़ गई है वह घर के चहारदीवारी के भीतर भी इनका पीछा नहीं छोड़ती। इससे सुलक्ष्मी चुप लगा जाती है। पर ज्यों ही वकील साहब धीमे पड़ते हैं कि वह फिर थोड़ा सा बोल देतीं और लगता कि बुझती हुई आग में घी पड़ गया, वकील साहब फिर बड़बड़ाने लगते। और यह एक-दो दिन का क्रम नहीं, यह तो महीने के तीसों दिन की बात है। प्रतिदिन ही काफी रात गए जब वकील साहब घर आते तब खाना खाते हुए या सोने जाने के पूर्व पति-पत्नी में एक झड़प हो जाती। इसका कभी किसी को कारण ढूँढ़ना नहीं पड़ा। वकील साहब इस बात को लेकर ही शुरू कर देते कि उनका अमुक काम सुलक्ष्मी ने नहीं किया या वह उनकी

कुछ भी परवाह नहीं करती। यह तो उनकी दृढ़ धारणा बन गई थी। कभी सुलक्ष्मी ही कह बैठती कि उसने अमुक वस्तु लाने को कहा था और नहीं आई। उसकी शिकायत थी कि वकील साहब संसार के लिए चाहे जो भी हों, नेता हों, रक्षक हों, पर घर के लिए तो कभी मिनट भर को भी नहीं फ़ुर्सत निकालते।

जाने किस अभागे क्षणों में इनकी शादी हुई थी कि कभी ये शान्ति से नहीं रह सके। और रह भी कैसे सकते ? दोनों में, दोनों की विचारधारा में, पूर्व औरपश्चिम का अन्तर था। वकील साहब थे, पढ़े-लिखे नेता आदमी, धनवान्। सुलक्ष्मी कम पढ़ी-लिखी और भारतवर्ष की सत्तर फीसदी संकीर्ण विचारों की औरतों में चुनकर एक। वकील साहब को लेक्चर-बाजी और रुपये पैदा करने से फ़ुर्सत न मिलती और सुलक्ष्मी को घर में काम-काज चुक जाने पर पास-पड़ोस की औरतों को अपने यहाँ जुटाकर लोगों के चरित्र, आमदनी, खर्च की चर्चा करते और अपनी बड़ाई कराने और कोई भी ब्राह्मण-ब्राह्मणी को मन भर कर दान-दक्षिणा देते संकोच न मालूम होता। वकील साहब तो पैसे जुटाने के फेर में रहते और सुलक्ष्मी को दान-दक्षिणा से परलोक बनता दिखाई पड़ता। वकील साहब जब कानून की किताबें या राजनीति की किताबें पढ़ते तो सुलक्ष्मी हनुमानचालीसा खोलकर बैठ जाती। फिर भला दोनों कहाँ मिल पाते !

उस दिन का यह झगड़ा कुछ गम्भीर था। बात यह थी कि इनके एकमात्र बेटे सतीश की तबीयत चार दिन से खराब है। बुखार उतरता ही न था। पहले दिनों तो वकील साहब ने सुलक्ष्मी और नौकर पर ही सब कुछ छोड़ दिया था। पर जब आज चार दिन से बिलकुल ही बुखार १०४° से कम न हुआ तो उन्हें भी कुछ चिंता हुई। मन में कुछ कँचोठ हो रही थी। झुँझलाकर उन्होंने कह ही तो डाला, "क्या बतावें, बुखार को भी आना था तो इसी मौके पर, डिस्ट्रिक्टबोर्ड के चुनाव के दिन। अगर यही चार छः दिन ढिलाई कर दी तो किया-धरा सब मिट्टी ! साल भर की सेवा, बेकार !"

पत्नी को कुछ सहारा मिला, अपनी बात आगे करने का मौका मिला। हाथ नचाकर बोली, "हाँ हाँ, लड़ लो। जीत लो चुनाव, चाहे घर की जो दशा हो ! पता नहीं कैसा दिल है तुम्हारा कि बेटा खाट से लगा है और तुम्हें चुनाव की पड़ी है।"

"हाँ, इसी तरह सब होता है। इसी चुनाव की जीत पर ही सब कुछ ठाट बाट है ." वकील साहब ने उत्तर दिया।

"हाँ, रहो ठाट-बाट से। मैं तोपचास बार कह चुकी हूं कि फिर हमें जाने दो मायके, हम वहाँ अपने मन का इलाज कर लेंगी।"

"हाँ, हाँ, शहर में मायका होने से यही तो होता है कि जब मन हुआ धमकाने लगीं ! मैं कहता हूँ, तुम आज चली जाओ। आज, पर अगर सतीश ठीक होता तो मैं भला तुम्हारी इतनी बातें क्यों सुनता।" वकील साहब का मन बड़ा चंचल हो गया। कुछ समझ में नहीं आ रहा था। सतीश तो बुखार के मारे आखें भी नहीं खोल रहा था।

वकील साहब ने अपने परम परिचित और प्रसिद्ध डाक्टर दासगुप्ता को बुला लिया। और दवा शुरू हुई। डाक्टर ने दवा शुरू करने के पहिले ही कह दिया कि बुखार बिगड़ गया, ठीक होने में ज्यादा समय लगेगा।

वकील साहब या सुलक्ष्मी, कोई भी भला इसका क्या उत्तर देते। चाहे जब उतरे बुखार। दवा शुरू हो गई। पर लाभ कुछ न हुआ। बेटा खाट पर पड़ा हड्डी मात्र रह गया था। वकील साहब सुबह-शाम डाक्टर दासगुप्ता से मिल लेते और दवा का प्रबन्ध कर देते। यहीं तक वे अपनी जिम्मेदारी समझते। दवा पिलाना और सतीश की देख-रेख करना वे सुलक्ष्मी के हिस्से का काम समझते थे। सुलक्ष्मी को इसमें कोई एतराज़ नहीं, न वह वकील साहब से कुछ अधिक चाहती, पर यह अवश्य चाहती कि बेटा बीमार है इसलिये वकील साहब चुनाव और समाज-सेवा छोड़कर बेटे के पास, कचहरी के बाद का सब समय बिताते।

वकील साहब भी यह अनुभव करते थे, पर बेकार यों बैठना उनके लिए कदापि संभव नहीं, चाहे जो हो। वे बैठ भी तो नहीं पाते। अगर शाम को घर पर ही रह जायें तो एक घण्टे में कम से कम बीस आदमी आकर दरवाजा पीटते।

सतीश के बुखार ने अभी भी उतरने का नाम नहीं लिया। दासगुप्ता डाक्टर की दवा को भी आज आठ दिन पूरे हो गए। सुलक्ष्मी ने क्षुब्ध होकर वकील साहब से कहा, "मैं तो पहले ही जानती थी कि इस दास गुप्ता को कुछ नहीं आता जाता। पर पता नहीं क्यों तुम उसे इतना बड़ा

धनवन्तरी माने बैठे हो? मै तो कहती हू कि क्या उसे दवा बदलनी न चाहिये थी यदि अभी तक फायदा नहीं किया इस दवा ने तो?"

वकील साहब भला क्या उत्तर देते। कातर आँखों से सतीश को देखा पास ही तिपाई पर रखी दवा की तीन शीशियाँ और शीशे का छोटा गिलास देखा और शीशियों पर लगे लेबिलों पर के लाल अक्षरों में छपे—मिक्शचर उनकी आँखों में सजीव हो उठे। बेटे की दशा बिगड़ती ही जा रही थी। दासगुप्ता डाक्टर की दवा के लिए अधिक जिद करने की हिम्मत नहीं हो रही थी। सुलक्ष्मी की ओर देखकर उदासी के शब्दों में कहा, "तो तुम्हीं जिसे कहो बुला लाऊँ!"

"मेरी तो राय है कि किसी वैद्य कविराज को दिखाओ। डाक्टरों का चक्कर कभी ठीक नहीं होता। न हो तो गुरुदत्त वैद्य को ही दिखा दो न!" और गुरुदत्त वैद्य ने सतीश की नब्ज़ देखकर आश्वासन दिया कि अधिक चिन्ता नहीं करनी चाहिये जल्दी ही ठीक हो जाएगा।

वकील साहब ने सुलक्ष्मी की ओर देखा और सुलक्ष्मी ने लम्बी साँस खींची। फिर बोलीं, "शायद अब भगवान् सुन ले।"

"हाँ, दासगुप्ता डाक्टर रहता तो भगवान् कभी न सुनते! शायद गुरुदत्त वैद्य उन्हें जल्दी सुनावें।" कहकर वकील साहब क्षण भर को चुप रहे फिर कहा, "हाँ, भगवान् सुन ले।"

"देखो इस प्रकार देवी-देवता को मत कोसो। जाने कब कैसा हो!"

"पर हमें इन देवी-देवता और भगवान् से कभी डर नहीं लगता।" वकील साहब ने कहा। उनका सुधारवाद उमड़ आया था। परन्तु सुलक्ष्मी चुप ही रही। इस विषय पर बात बढ़ाने से बुरा ही होगा।

और सात दिन बीत गये। गुरुदत्त वैद्य की गोलियों ने भी कुछ असर न दिखाया और इस प्रकार आज उन्नीस दिन बीत गये। आज से सतीश ने ऊल-जलूल बकना शुरू किया। वकील साहब भी बहुत चिंतित हुए, सुलक्ष्मी का दिल बैठने लगा। दासगुप्ता डाक्टर तो केवल 'टाईफाइड' कहता था अब तो गुरुदत्त वैद्य ने कहा कि यह तो 'सन्निपात' के लक्षण हैं; और यह सुनते ही सुलक्ष्मी के हाथ पाँव फूल गये।

बहुत घबराकर उसने वकील साहब से कहा, "मेरा दिल बैठा जा रहा है, न हो तो किसी ज्योतिषी पंडित से जरा जन्म-कुण्डली ही दिखाते !"

वकील साहब की जिद की नींव भी हिल चुकी थी। उन्होंने अधिक अपने मन का करना नहीं चाहा और कहा, "बुला लो ज्योतिषी को, पर मैं तो जानता हूँ कि ज्योतिषी के किए कुछ नहीं होने को। डाक्टर का कहना है कि अट्ठाईस या इकतीस दिन लगेंगे, सो लगेंगे ही।"

और दूसरे दिन सवेरे ही प्रसिद्ध ज्योतिषी चिन्तामणि मिश्र ने बताया कि ग्रह कुछ बुरे पड़े हैं—मंगल नीच के हैं। कोई हानि की आशा नहीं पर बीमारी लम्बी है।

"तो क्या शांति का कुछ उपाय नहीं?" आँखें पोंछकर सुलक्ष्मी ने पूछा।

ज्योतिषी महाराज कुछ देर चुप रहे फिर जोड़-जाड़कर बताया, "हाँ शाँति के लिए जप, दान-दक्षिणा किया जा सकता है।"

और बिना सोचे-समझे ही सुलक्ष्मी ने शांति की सब व्यवस्था करा दी। वकील साहब देख रहे थे—व्यर्थ जाते हुए धन को, ज्योतिषी की जेब में। पर कुछ बोले नहीं, क्योंकि बोलना नहीं चाहते थे।

ज्योतिषी ने अपने मन के अनुसार चार दिन तक पूर्ण शांति की बहुत कोशिश की; परन्तु कुछ लाभ न हुआ। बच्चे की हालत बिगड़ती जा रही थी। न वकील साहब की समझ में कोई इलाज आता था न सुलक्ष्मी की समझ में। अन्त में वकील साहब ने कहा, "अगर राय हो तो फिर किसी दूसरे डाक्टर को बुलाऊँ।"

सुलक्ष्मी अपने मन का सब कुछ कर रही थी, उसके सुझाव पर ही तो गुरुदत्त वैद्य और चिन्तामणि मिश्र ज्योतिषी आये थे, पर दोनों ही असफल रहे और उसका बच्चा-लाल धीरे-धीरे हड्डी का ढाँचा ही बनता जा रहा था। कहीं कुछ बुरा हो गया तो........। उसका मन कुछ भी सोचने समझने के उपयुक्त नहीं था। जल्दी में उसने वकील साहब से कहा, "हाँ, बुला लो, क्या पता डाक्टर ही की दवा लग जाए।" कहकर मन ही मन उसने भगवान् को हाथ जोड़ा और कहा कि हे प्रभु, मेरे गोद की रक्षा करना। हमारे पाप का बदला इस रूप में मत निकालो।

वकील साहब ने शहर के सिविल सार्जन कर्नल वर्मा के साथ घर में प्रवेश किया। अच्छी तरह देख-भालकर सिविल सार्जन ने बताया कि कोई खतरा तो है ही नहीं ! हाँ, यह बुखार जरा ज्यादा दिन लेता है।

वकील साहब को कर्नल वर्मा की बात बिलकुल ठीक जँची। "बुखार बिगड़ गया है—समय लेगा···चिन्ता मत करो।" सुलक्ष्मी के कन्धे पर हाथ रखकर वकील साहब ने उसे ढाढ़स बँधाया। सुलक्ष्मी के लिए यह बुरा हो गया। पच्चीस दिनों से बेटे की बीमारी से अपने को पूरी तरह खपाती हुई यह नारी, यह मां, यह सुलक्ष्मी, जिस जलन और तपने का अनुभव करती आ रही थी, वह कब तक सहा जाता। प्रतिक्षण बेटे का काल उसे खा रहा था। उसका मन भी एक बड़े फोड़े की तरह अपने भीतर ही भीतर पक रहा था, बुलबुला रहा था, जो दर्द पैदा कर रहा था और ऐसा दर्द जो टीसकर भीतर का भीतर ही रह जाता था। वह टीस कैसी भयानक होती थी यह सुलक्ष्मी ही जाने। इस समय बहुत दिनों से असंतोष की छाया में पलता हुआ उसका मन, वकील साहब की सहानुभूति से भर आया और मन में जब उसका दुःख न समाया तो आंसू बनकर आँखों की राह बाहर छलक आया। वकील साहब का जी भी दुखने लगा, सुलक्ष्मी के कन्धे पर से हटा कर हाथ उसकी पीठ पर दाबा और अपने से लगा लिया। वकील साहब का स्पर्श पा सुलक्ष्मी के ढाढ़स का बाँध टूट गया और वह फफककर रो पड़ी।

नारी की पीड़ा जब रुदन बनकर उमड़ी तो उसे वकील साहब सँभाल न सके। फिर एक ऐसी नारी जो मां भी है और पचीस दिनों से लगातार अपने एक मात्र बेटे को तिल-तिल करके गलते देख रही थी। सुलक्ष्मी को वकील साहब सँभाल न सके। दो चार सौ बिगड़े मजदूरों को, चार छः हजार की भीड़ को वे संभालने की शक्ति अपने में निहित किए थे, पर इस सुलक्ष्मी को वे नहीं शान्त कर पारहे थे।

वकील साहब ने कहा, "अब तुम्हारे भी इस प्रकार रोने से क्या लाभ, देखो न सतीश के साथ ही तुम भी कितनी दुबली हो गई हो और अगर यही हाल रहा तुम्हारा, तो मैं क्या करूँगा ?"

उत्तर में सुलक्ष्मी फिर रो पड़ी, "फूटकर, फफककर ! तभी काँपकर

सतीश ने करवट बदली और चीख उठा, "मां, हमें पकड़े वे लिए जा रहे हैं। हमें...... ...माँ ......।"

वकील साहब का सहारा छोड़ सुलक्ष्मी भागकर सतीश की खाट पर गई और उसे अपने कलेजे से लगा लिया। मां की छाती का स्पर्श पा बालक भय भूल गया। लेकिन बेटे का इस प्रकार चीखना, सुलक्ष्मी ने दूसरे ही रूप में लिया। पति की ओर कातर दृष्टि से ताककर कहा, "यदि तुम्हारी राय हो तो मैं अपने मन का एक काम और कर लूँ?"

"हाँ, कर लो!" इसके अलावा वकील साहब कहते भी क्या?

"विन्ध्याचल की महारानी की मानता थी, मैं पूरी कर लूँ।" सुलक्ष्मी ने बेटे के सिर पर हाथ फेरकर कहा।

"अरे अब क्या करेंगी तुम्हारी देवी? पर तुम चाहती हो तो जा सकती हो पर सतीश को कैसे जाने दूं।"

क्षण भर सोचकर सुलक्ष्मी ने कहा, "ठीक है मैं ही अकेली जाऊँगी, देवी माँ से प्रार्थना करूँगी कि मेरे लाल को खड़ा कर दें, तो दुबारा जाऊँगी।" आँखों के आँसू को बहाकर दोनों हाथों से सतीश का सिर दबाकर कहा। वकील साहब कुछ बोले नहीं, सुना नहीं गया दूसरे कमरे में चले गए और पलँग पर कटे वृक्ष की तरह गिरे, चिन्ता में डूबे हुए। सतीश तो बीमार है ही अब इस सुलक्ष्मी को कैसे समझावें।

और तीसरे दिन ही सुलक्ष्मी नौकर को साथ ले विन्ध्याचल को रवाना हो गई। उसके अन्तरात्मा की यह आवाज थी कि अवश्य ही विन्ध्यवासिनी देवी के असन्तुष्ट होने के कारण ही सतीश बीमार है। फिर तो सुलक्ष्मी जा ही रही थीं देवी को मनाने। उसे विश्वास था कि यदि देवी प्रसन्न हो गई तो अवश्य ही उसका बेटा अच्छा हो जायगा।

उसी दिन शाम को सिविल सार्जन ने सतीश की नब्ज और हृदय की धड़कन गिनकर बता दिया कि अब सत्ताईस दिन पूरा हो गया है। शायद बुखार उतरना शुरू हो।

और सचमुच ही जब सुलक्ष्मी लौटी तो देखा कि सतीश का बुखार कम हो रहा है। उसने लपककर, एक दोने में लगी रोली का एक टीका सतीश के

पीले पड़े माथे पर लगा दिया। टीके के कारण चेहरे पर एक चमक आ गई। सुलक्ष्मी ने समझा कि महारानी ने ही कृपा की। आँखें मूँदकर मन ही मन प्रणाम किया उस अपनी कृपालु देवी को।

पास ही खड़े वकील साहब यह नाटक देख रहे थे और मन ही मन खुश हो रहे थे कि सिविल सार्जन का कहना सच ही निकला। दिन अधिक जरूर लगे पर बुखार उतर तो रहा है। यही तो आखिर डा० दासगुप्ता भी कह रहे थे। पर जिसके हाथ,मरीज अच्छा हो वही यश का भागी है। वह यही सब सोच सोचकर मन ही मन खुश हो रहे थे कि एकाएक चौंक पड़े। देखा देवी के प्रेम में विह्वल सुलक्ष्मी, देवी का प्रसाद, विन्ध्याचल के मन्दिर से लाया चीनी का गट्टा सतीश को खिलाने जा रही है। वे चिल्ला उठे, "खबरदार, जो कुछ खिलाया। अभी तो पूरी तरह से बुखार भी नहीं उतरा है। क्या जान ही ले लेना चाहती हो ?"

सुनकर सुलक्ष्मी की आँखों में खून उतर आया। चेहरा क्रोध, लज्जा और अपमान से लाल हो गया। झटके से उठ खड़ी हुई और गट्टे और प्रसाद के दोने को आँचल के खूँट में बाँधती हुई बोलीं, 'तुम्हें तो अपनी ही जिद रहती है, न देवी देखो न देवता! अरे प्रसाद खिलाने में क्या होता है ?"

"काश, इतनी अक्ल होती तुम्हें कि यह जान पातीं!" लम्बी साँस लेकर वकील साहब ने कहा और बैठके में चले गए। पर वहाँ भी उनका मन न लगा और दूसरे ही क्षण वे सड़क पर आ बाजार की ओर जा निकले।

क्षुब्ध मन से खड़ी सुलक्ष्मी ने खिड़की से झाँककर वकील साहब को जाते देखा। आशा से उसकी आँखें चमक गईं वकील साहब चले गये थे। सतीश के पास आ, निर्भय हो उसने आँचल में बँधे प्रसाद को खोला और सतीश को खिला दिया, फिर मन ही मन देवी से इस अपमान के लिए क्षमा माँगी और प्रार्थना की कि वह नाराज न होकर उसके बेटे को शीघ्र ही स्वास्थ्य दें, सतीश ने भी चीनी की मिठाई पाई, वह भी खुश हो गया।

शाम को सुलक्ष्मी का जी बहुत हल्का था। उसने पति से चुराकर सतीश को देवी का प्रसाद खिला दिया था। उसके मन में यह विश्वास अब जम

गया था कि उसका बेटा अवश्य ही चंगा हो जायगा। देखो न, वह विन्ध्याचल गई नहीं कि बस उसका लड़का अच्छा होने लग गया है।

वकील साहब काफी रात गए आए। गुस्सा शांत हो गया था। उसी घटना की चर्चा करके कहा, "सुलक्ष्मी' तुम्हें बुरा नहीं मानना चाहिये। डाक्टर ने कहा है कि बुखार उतरने पर अधिक हिफाजत की जानी चाहिये। यह टाइफायड बुखार था। बड़ा भयंकर होता है। अगर यह दुहरा गया तो फिर खैर नहीं।"

"हाँ, हाँ अब चाहे जो कहो, सतीश अच्छा हुआ तो मेरे ही विन्ध्याचल जाने से!" मन के पूरे उत्साह के साथ सुलक्ष्मी ने कहा। वकील साहब ने समझा कि सुलक्ष्मी खुश है, बहुत बड़ी बात में। वे चुप ही रहे।

वकील साहब के सिविल सार्जन की दवा और सुलक्ष्मी की देवी की अनुकम्पा से सतीश अच्छा होने लगा। जिस गति से वह खाट से लगा था उसी गति से वह चंगा भी होने लगा।

वकील साहब और सुलक्ष्मी दोनों की आँखें अपने-अपने मन में समझे हुए विजय पर चमकतीं। दोनों एक दूसरे को घूरकर देखते। होठों में मुस्करा कर व्यंग करते पर इस बात के अज्ञान में थे कि सचमुच दोनों ही अँधेरे में भटक रहे हैं।

किसी प्रकार सतीश अच्छा हो गया। बुखार तो उतर गया, दाल, रोटी और क्रम-क्रम से सभी वस्तुएँ भी खाने को दी गई। वह उठकर थोड़ा-बहुत चलने भी लगा था। सुलक्ष्मी विन्ध्यवासिनी देवी के सम्मुख की गई इस प्रतिज्ञा को भी नहीं भूली थी कि अच्छा होने पर वह दर्शन करने आएगी।

एक दिन सुलक्ष्मी की माँ ने उसे बुला भेजा। जब बुलावा लेकर दाई आई तो वकील साहब घर पर ही थे। बैठक में बैठे बड़े ध्यान से कोई पुस्तक पढ़ रहे थे। भीतर आकर सुलक्ष्मी ने कहा, "सुना? माँ ने बुलवाया है। कल कथा है न, सो कहो तो हो आऊँ!"

"कथा है? तुम्हारी माँ भी, क्या हैं, जब देखो कथा, तीज, कीर्तन! जाने सब बुढ़ियों को इसमें क्या मिलता है! खैर, तुम तो जाओ ही, हो आओ।"

"और अगर तुम्हें तकलीफ न हो तो रह भी लूँगी एक हफ्ते, भाभी के बच्चा होनेवाला भी तो है!" आँचल का खूँट उमेटते हुए सुलक्ष्मी ने कहा।

"हाँ, हाँ बच्चा-बच्चा हो जाय तभी आना। पर, पर सतीश......!
खैर उसे सँभालना कुछ खाने-पीने न पाये, गड़बड़।"

और आज्ञा पाकर सुलक्ष्मी ने खुशी खुशी तैयारी करके मां के घर का रास्ता लिया।

मां के यहां उसे चार दिन हो गए थे। सतीश अब तक ठीक था, वह बरसात का मौसम था, एक शाम चारों ओर से एकाएक काले-काले बादल घिर आए और देखते ही देखते मूसलधार वर्षा होने लगी। औरतों की गोल में सभानेत्री की तरह बैठी सुलक्ष्मी की मां ने बात की शृङ्खला तोड़कर एकाएक चौंककर अपने नौकर को पुकारा और कहा कि झटपट जाकर जरा मंदिर के पुजारी से पूछ तो आये कि यह कौन नक्षत्र बरस रहा है। मघा तो नहीं है?

"क्या होगा मां, मघा का?" सुलक्ष्मी ने उत्सुकतावश पूछा।

"अरे यह भी तुझे किसी ने नहीं बताया। मघा के पहिले पानी में नहाने से साल भर कोई रोग व्याध नहीं आता। अगर यह मघा ही है तब तो मैं अपने सतीश को जरूर नहलाऊंगी।"

"अरे मां पानी में? वह इतना तो कमजोर है!" सुलक्ष्मी ने कहा।

"दुत् पगली, मघा का पानी अमृत होता है अमृत!"

और ज्यों ही नौकर ने आकर बताया कि यह मघा ही है तो बिना सोचे-समझे ही सुलक्ष्मी की मां ने सतीश को छत पर लाकर खूब नहलाया। सुलक्ष्मी रोक न सकी। मां का कहना था न कि मघा का पानी अमृत होता है। फिर सतीश क्यों इस अमूल्य अमृत से वंचित रह जाए?

पर उसी रात को जब सोते ही सोते सतीश को बुखार चढ़ा और देह भी तवा-सा गर्म हो गया तो सुलक्ष्मी का दिमाग चक्कर खाने लगा। मां ने कहा था अमृत होता है और यह क्या?

दूसरे दिन वकील साहब के घर फिर खाट बिछ गई। सिविल सार्जन की मोटर दरवाजे पर सुबह-शाम आने लगी। पर वकील साहब बड़े उदासीन थे—यह कमजोर लड़का! फिर यह देवी-देवताओं का चक्र, मघा का अमृत पानी! सुलक्ष्मी की अक्ल मारी गई है; और अपनी बूढ़ी सास को भला क्या कहें वे।

"केस हाथ से बाहर हो जायगा, अगर ठीक से परहेज न किया गया तो !" सिविल सार्जन ने कहा। सुलक्ष्मी के मन में यही विचार आया कि मघा का यह फल है। उत्तर में वकील साहब ने सुलक्ष्मी की ओर ताक भर दिया। मानो प्रश्न सुलक्ष्मी समझ गई। अभी तक वह जो किवाड़ पकड़े खड़ी थी सो चलकर सतीश के सिरहाने आ गई और सिर झुकाए हुए बोली, "नहीं डाक्टर साहब, अब गलती न होगी। जैसे आप कहिएगा करूंगी। बस, इस बार मेरे बेटे को अच्छा कर दीजिए।"

और डाक्टर के अलावा वकील साहब भी मुस्कुरा पड़े, "नहीं नहीं; विन्ध्याचल हो आओ न !"

सुलक्ष्मी की आंखे गीली हो गईं। बाहर निकल कर डाक्टर ने धीरे से वकील साहब से बतलाया कि मामूली बुखार है, चिन्ता की बात नहीं, पर वहां पर कहना जरूरी था। सहमत होने के ढंग में वकील साहब ने सिर हिलाया। मन में खुशी भी थी कि सुलक्ष्मी के विन्ध्याचल जाने का खर्च बचा !
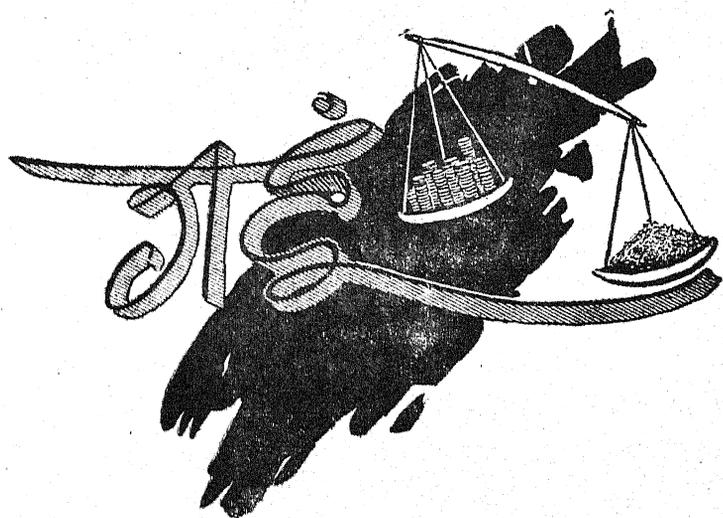
"गेहूँ, गेहूँ, गेहूँ !"

मुंशी छोटेलाल चीख पड़े। उनकी गेहूँ की यह आवाज उस पुराने मकान की प्रत्येक पुरानी ईंटों से टकरा कर गूँज उठी। धुएँ से काले हो रहे चौके में चूल्हे के पास बैठी, काम करती हुई पत्नी के हाथ से दाल की बटलोही छूट गई। उनके कान झनझना गए थे। पकड़ में कुछ ढिलाई हुई और बटलोही झटकेसे लुढ़क गई। सारी दाल बह गई, बेकार। परन्तु मुंशी जी की आवाज से उनकी पत्नी के कान अब तक झनझना रहे थे।

उसने तो केवल यही कहा है कि गेहूँ शाम भर के लिए है। अगर आज न आया तो कल दिक्कत होगी। बस, इतना ही कहने में इतना बिगड़ गए! "तू एक दिन मुझे ही खा ले, बस तेरा पेट भर जाएगा! अरे हम घर में आए नहीं कि शुरू हुआ—यह नहीं है, वह नहीं है। अरे, तू ही बता मैं क्या-क्या करूँ। दिन भर कचहरी में वकील के साथ, मुकदमें वालों के साथ सिर खपाऊं और घर आऊं तो तुम्हारी यह जरूरतें। मैं अकेला क्या-क्या करूँ ?" मुंशी छोटेलाल बिगड़ कर कहे जा रहे थे।

अभी तक चुपचाप सुनती हुई पत्नी से अब नहीं रहा गया। पति के गुस्से से पैदा हुई खिझलाहट, ऊपर से यह पूरी बटलोही दाल नष्ट हो गई।

अभी आधे घंटे बाद ही फिर सिर पर सवार होकर कहेंगे कि कचहरी की देरी हो रही है। सो एकाएक उसका दिमाग भी खिझला उठा। कुछ कड़े शब्दों में उसने कहा, "पर अगर गेहूं लाने को कह ही दिया तो क्या पाप किया जो इस तरह लाल-पीले हो रहे हो। मेरी तो सारी दाल भी गिर गई। अब खाकर जाना कचहरी! लाकर सामान रखोगे तब मैं भी खाना पका दिया करूँगी। नहीं लाओगे तो क्या मैं अपना हाथ-पांव सिझाऊंगी?"

"नहीं नहीं हाथ पांव क्यों सिझाओ! तुमने हमें जो एक कमजोर पा लिया है न, सो हमें सिझाओ, हमें, हमें!! क्योंकि जब तक तू हमें नहीं खा लेगी, तुझे शान्ति नही मिलने को।" अपने कलेजे पर हथेली पटकते हुए मुंशी जी जो अभी तक बरामदे में खड़े थे, अब आंगन में आकर चौके के सामने खड़े होकर कहने लगे। पत्नी ने पति का यह रूप देखा तो चुप हो गई। छोटेलाल पाइप के पास जमी काई में फिसल गए। गिरते-गिरते बचे। पत्नी का क्रोध छू-मन्तर की तरह गायब हो गया। उसने कहा, "देखो अभी गिर पड़ते तो चोट लग जाती। मैं कहती हूं कि जरा जबान को काबू में कर लो। नहीं तो जाने कब की बात कैसी लग जाती है। देखो यहां हमारी दाल भी गिर गई।"

परन्तु मुंशी छोटेलाल का गुस्सा नहीं उतरा। उन्होंने कहा, "तीन बार तो सुन चुका कि दाल गिरा दिया तुमने। यह मालूम ही है कि आज का खाना गया, फिर बार-बार सुना क्यों रही हो? अरे तुम्हारे राज में हमें यही बदा है। मेरी भी क्या किस्मत है! इतनी बार कहा कि बस रुपये हमसे ले लिया करो और सब अपने से करो। जब हम समय पर सामान नहीं ला सकते तो अब खुद करो इसके अलावा और को कोई उपाय ही नहीं है।"

"हाँ हाँ, मैं तो आज ही चादर ओढ़ कर मण्डी चली जाऊंगी और सारा सामान खरीद लाऊंगी। पर कल मत कहना कि बिरादरी में हमारी नाक कट गई!"

मुंशी छोटेलाल के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। अब वे चुप हो गए। उनमें और उनकी पत्नी में बिल्कुल ही नहीं पटती। जब तक वे अपने मां-बाप के साथ रहते थे—रोज ही घर में हाहत्या मचती रहती थी। मुंशीजी, मां और पत्नी में बिल्कुल ही नहीं पटती थी। रोज-रोज की परेशानी

से तो ऊबकर उसने अपने को परिवार से अलग किया, पर जैसे उनकी पत्नी की शांत रहने की आदत ही न हो।

मुन्शी छोटेलाल का कहना है कि उनको कचहरी में बहुत काम करना पड़ता है, उनके ही बल पर तो वकील साहब की पूरी वकालत चलती है। परन्तु फिर भी वकील साहब उसकी बहुत इज्जत नहीं करते। और कचहरी में मन पर जो कुढ़न और अपनी हीनता का क्षोभ लाद कर मुंशी जी घर लाते हैं, वही पत्नी पर उतारते हैं। स्त्री जब जब जली-कुढ़ी बातें करने लगती है तब मुंशी जी के मन में कचोट-उमेठती है। किसी कोने में पलता घाव दुख उठता है—बाहर तो वकील साहब द्वारा दिन भर उन्हें परेशानी उठानी पड़ती है। खैर वे वकील हैं, कुछ भी कह-सुन सकते हैं लेकिन यह औरत जो उनकी पत्नी है, वह भी उनसे दब कर नहीं रहना चाहती।

मन के घाव का यही तो एक खास कारण है। वह आस पास के मित्रों और जान पहचान के लोगों को देखता है। और उनके सुखी दाम्पत्य जीवन को भी पहले तो उनसे ईर्ष्या होती है फिर अपने ऊपर गुस्सा। और अन्त में वह सोंचता है कि उसकी पत्नी, पत्नी नहीं बल्कि केवल औरत ही है।

आज उसका सुबह ही से सब कुछ नुकसान हो रहा था। सुबह ही मिठाईलाल महाजन ने घर पर आकर दस रुपये दे जाने का वायदा किया था, परन्तु वह झूठा निकला। नहीं आया। अब कचहरी में वकील साहब के सामने में-में करके मुफ्त ही काम करा लेगा। यही नहीं पत्नी ने दाल गिरा दी थी, यदि वह चाहती तो दाल के स्थान पर बैंगन का भर्ता ही बना सकती थी। पर उसने कुछ नहीं किया। सूखी तरकारी के साथ ही रोटी खानी पड़ी है। बड़ी मुश्किल से पेट में खाना पहुँच सका। इसके साफ माने हैं कि उसको थोड़ी भी चिन्ता नहीं है। और जिस दिन सुबह से ही सब गड़बड़ी हो जाती है उस दिन, दिनभर गड़बड़ बीतता है। कचहरी में भी उस दिन कोई काम नहीं हो सका। मुन्शी जी को केवल भिन्न-भिन्न अदालतों में पैर पटकते ही बीता। शाम तक केवल सात रुपये ही मिले। और बदकिस्मती की भी हद होती है—आज कोई एक भी ऐसा मुवक्किल नहीं आया जो एक प्याला चाय या चार बीड़े पान भी खिलाता। अपने साथ लाई हुई पूरी बंडल बीड़ी समाप्त हो गई।

शाम को मुंशी छोटेलाल लौटे, तो सिर घूम गया। यह भी क्या जिन्दगी है। बीस रुपये घर से लेकर चले थे, सात रुपये कचहरी में मिले थे। पूरे सत्ताइस हुए। इसमें एक मन गेहूं तो शायद मिल जाय। और अगर मिल गया तो दो महीने को छुट्टी हो जाए। जो रोज ही घर में कलह मचा रहता है।

मुंशी जी सीधे अनाज की मंडी गए। पहले तो सारी मंडी का एक चक्कर लगा कर यह पहचाना कि कोई ऐसा तो महाजन नहीं कि जिससे उनका परिचय हो। पर उस समय ऐसा कोई दिखाई नहीं पड़ा। अन्त में एक बड़ी दूकान में गए और मोल भाव किया। छब्बीस रुपये मन पर बात ठहरी। बड़ी देर तक भाव को तय करने में जो उलझन मन में समा गई थी उसे आर्डर देकर उन्होंने समेटा। अकड़ कर बोले, "अच्छा महाजन, एक मन तौल दो।"

और महाजन ने झट अपना तराजू उठा लिया। दो मिनट, खपड़े के दो तीन टुकड़े इधर-उधर रख कर तराजू की तौल शुद्ध किया, फिर अढ़ाई सेर का बटखरा रख कर तौलना शुरू किया। पहले ही महाजन ने 'राम एक—राम एक' की जो धुन लगाई तो मुन्शी जी मन्त्र-मुग्ध से देखते रह गए। क्या मशीन सा इनका हाथ चलता है। क्या मजाल कि थोड़ा भी अनाज तराजू से नीचे गिर पड़े।

"बाबू जी कुली होगा?" पीछे से किसी ने आवाज लगा कर मुंशी जी का ध्यान बदला।

मुन्शी जी सतर्क हो गए। और अपने हाथ का छाता सम्हाल लिया। घूम कर देखा तो एक मजदूर सर पर टोकरा ओढ़े खड़ा था।

"हां होगा। क्या लोगे? दूर नहीं जाना है।"

"जो रेट है बाबू, कोई ज्यादा तो नहीं मांगेंगे।

"अच्छा रुको—इधर आ कर देखो।" और कह कर उन्होंने फिर बनिया की ओर ध्यान दिया तो आश्चर्य और शक से उनकी दृष्टि फैल गई। बनिया तभी तो राम एक और दो पर था अब 'पांचहिं पांच' करने लगा। तो क्या पांच बार तौल चुका? असम्भव, बेईमानी !!

"क्या पांच हो गए?" छोटेलाल ने पूछा।

"क्यों आप नहीं गिन रहे हैं क्या? आप के सामने ही तो तौल

रहा हूं ।"

दिन भर कचहरी में मुकदमेंबाजों को चक्कर देने वाले मुन्शी जो इस समय अच्छी तरह बनिये के चक्कर में आ गए हैं, यह उन्हें प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा था। उन्हें लग रहा था, मानो कोई जबरदस्ती उनकी जेब के सत्ताइस रुपये निकाले ले रहा है।

अचानक ही एक बार उनका हाथ जेब में चला गया। रुपया सुरक्षित था--चाहे थोड़ी देर बाद देना ही पड़े।

और पूरे छब्बीस रुपये दे कर, मन भर गेहूं का बोरा मजदूर के कंधे पर रखा कर मुन्शी जी आगे आगे चले तो सोचते जा रहे थे कि चल कर पत्नी को खूब डांटकर कहेंगे कि ले गेहूं आ गया, अब दो महीने बोलना मत। साथ ही जरा शान्ति रखना कि तभी पीछे पीछे आते हुए मजदूर ने गुनगुना कर कहा, "बनिए भी कितने चोर होते हैं।"

मुन्शी जी का माथा ठनका। घूम कर कंधे पर रखे छाते को हाथ में लटका लिया, "क्या कहा?"

"कुछ नहीं बाबू जी, ये लोग तौलते बहुत कम हैं?"

मुन्शी जी के मुंह पर तमाचा सा पड़ा। सारा मुंह लाल हो गया। आज अवश्य ही बनिए ने चोरी की, उनकी गांठ काटा। बदमाश ने कम तौला होगा जरूर, तभी तो यह मजदूर भी कह रहा है। पर इतना विश्वास रख कर, इतना समझ कर भी मुंशी जी आगे कुछ कह पूछ न सके। अपनी चूक पर उन्हें रह रह कर शोक हो रहा था।

जब वह घर पहुँचे तो पत्नी की बांछे खिल गईं। हंस कर उसने हाथ की थाली पाइप के नीचे धोते हुए कहा, "अगर सुबह इतनी बहस न होती तो भला कैसे आता?"

मुन्शी छोटेलाल के दिमाग में केवल बनिये का कम गेहूं तौलना ही नाच रहा था। पत्नी के यह हास्य-वाक्य कानों को चुभ से गए। तिलमिला कर वे रह गए। लेकिन पत्नी के इस उत्साह का कारण उनकी समझ में नहीं आया।

बनिए की बेईमानी की बात से उनके मन को जो संताप हो रहा था वह उन्हें भीतर ही भीतर काट सा रहा था।

शाम को जब वे खाना खा चुके, कुछ स्वस्थ हुए तो बैठके में क्षण भर को बैठे। तभी उन्हें याद आ गया। दीवाली तो नजदीक है। त्योहार आ रहा है। 'खेल' शुरू होना चाहिए और यह शुभ सूचना तो आज सुबह ही मुन्शी जी के परम मित्र शिवचरन कम्पाउण्डर ने दे ही दी थी। केशोलाल सोनार के यहाँ बैठकें शुरू हो गई हैं। वे झटपट उठे। जेब में हाथ डाला तो केवल दस आने की रेजकारियां बज उठीं। छब्बीस रुपये तो गेंहू के दिए थे, छः आने मजदूर ने ले लिए थे। बस दस आने बचे। उठ कर वे भीतर आए—सोचा पत्नी से पाँच का एक नोट माग लूँ और चला चलूँ—त्योहार का दिन भी आ ही रहा है। और शिवचरन की भी बात रह जाएगी।

वे उत्साह से फूले हुए भीतर गए। देखा पत्नी गेहूँ का बोरा खोल उसमें से गेंहू निकाल कर निरीक्षण कर रही थी। इन्हें देखते ही बोली "यह तो बड़ा खराब गेंहू है। इसमें आंटा तो निकलने से रहा। पिसने पर केवल चोकर ही चोकर रह जाएगा।"

मुन्शी जी के सामने फिर धूर्त बनिए की छाया नाच गई, "कमीना, चोर। अच्छा रह, कभी हाथ आएगा तब बताऊंगा!" वे बुदबुदाने लगे।

पत्नी को कुछ समझ में नहीं आया। सो पूछा, "किसे कह रहे हो?"

"तुझे नहीं कह रहा हूं!"

"हमें क्या कहोगे? हमने भला तुम्हारा क्या बुरा किया है?" बोरे को बन्द करती हुई वह बोली।

"अच्छा छोड़ो, एक पांच का नोट तो देना!" मुंशी जी ने कहा।

"क्या आज किसी होटल का चिराग रोशन करना है क्या?"

"तुम्हें तो वही याद है। अरे होटल तो कभी कभी साल छः महीने में एक बार चला जाता हूं। वह भी जब वकील साहब के दोस्तों की बहुत प्रार्थना होती है तब! आज तो सोचता हूं, त्योहार आ रहा है, शकुन कर लूँ?" अति दीन और सीधे बन कर कहा मुंशी जी ने।

"कैसा त्योहार! कैसा शकुन!!"

"दीवाली को अब कितने दिन हैं? केवल तीन ही दिन तो! परसों तो धनतेरस है।" दाएं हाथ की तीन उंगलियां दिखा कर उन्होंने बताया।

"अरे रे, मैं तो भूल ही गई थी। अच्छा, त लाई-चिउरा की खबर करना, मुन्ना के लिए खिलौने भी और कपड़े नए!" कहती हुई वह बरामदे से जाने लगी।

यह नई फेहरिस्त सुन कर मुंशी जी का जी जल कर राख हो गया। पत्नी को जाते देखा तो कुछ कड़े बन कर कहा, "अच्छा, पांच का नोट तो दो!"

"मेरे पास नहीं है।"

"नहीं है, क्यों उस दिन तीस रुपये दिए थे न।"

"हाँ, बीस तो आज ही दिए थे, गेहूं के लिए?" जाती हुई पत्नी ने कहा। ?

"फिर भी दस बचे तो होंगे?"

"परन्तु अगर वह भी तुम्हें खेलने को दे दें तो त्योहार पर क्या होगा?"

"त्योहार की फिकर तुम्हें क्यों है? क्या मैं मर गया हूं?" जोश में मुंशी जी ने कह दिया।

मुंशी जी के अन्तिम वाक्य ने उनकी पत्नी के पांव में ब्रेक लगा दिया। एकदम से घूम कर वह खड़ी हो गई, आखें लाल, अंगार थीं। "क्यों, त्योहार के दिन भी ऐसी बातें करते हो।" और घूम कर कमर से दस का नोट निकाल कर पति के पांव के पास फेंक कर रो पड़ी, "ले जाओ, हमें दस का नोट ही प्यारा है या......।" आगे वह कुछ न बोली। आंचल से मुँह मूंद लिया।

मुंशी जी ने झुक कर नोट तो उठा लिया पर हृदय उनका जाने कैसा होने लगा, "आखिर तुम रोने क्यों लगीं?"

"तुम्हारे मुँह में लगाम भी है! जब देखो मरने मारने की बात! अरे तुम्हीं न रहोगे तो क्या यह दस का नोट ही हमारी जिन्दगी काट देगी?"

कह कर वह पास की खाट पर सोते बेटे के सिर पर हाथ फेरने लगी।

मुंशी जी ने आगे बढ़कर पत्नी की पीठ पर हाथ सहला कर कहा, "पर कौन कहने से मरा जा रहा है!"

"कब का कहना बुरा होता है, कोई नहीं जानता।" पति का हाथ हटाती हुई वह बोली।

हंसते हुए मुंशी जी बाहर चले गए। अपनी पत्नी के अनेक रूप उन्होंने देखे। पर यह जो एक नया रूप वह अब धारण कर रही है—प्रत्येक बात पर जो मृत्यु से संबोधित हो, वह क्यों रो पड़ती है? मुंशी जी कुछ समझ नहीं पा रहे थे। वे सीधे तम्बोली की दूकान पर गए। दस के नोट को, दो पांच पांच की नोटों में बदला। और एक लाकर पत्नी को देकर बोले, "लो यह पांच, लाई और मिठाई को रखो।"

पत्नी ने आखों की कोर से पति की उदारता को देखा और देखती रह गई। मुंशी जी पांच का नोट लिए हुए बाहर हो गए। एकाएक पत्नी के मुँह से निकला, "पुरुष! स्वार्थी!!" और पास पड़ा नोट उसने मुठ्ठी में कसकर बांध लिया।

तीन घंटे 'खेल' के बाद मुंशी जी ने खिजला कर जेब देखा तो पूरे पांच रुपये दस आने की शेष रकम भी निकल चुकी थी। शिवचरण ने कहा, "बस बोल गए?"

मुंशी जी को ध्यान आया। उस समय बनिए ने जेब खाली की, इस समय यहां! वाहरे त्योहार।

"क्यों क्या बात है!' शिवचरण ने पूछा।

मुंशी जी बनिये की आकृति को याद करके कुढ़ रहे थे। झट मुँह से निकला, "गेहूं' खरीद लाया—छब्बीस रुपया मन।"

"अच्छा बड़ा पुष्ट दाना होगा सुर्ख, तब तो छब्बीस रुपया मन मिला!" शिवचरण कहता जा रहा था। मुंशी जीने उत्तर दिया, "हाँ, घुना था, सब! लेकिन गेहूं था, गेहूँ, आदमी गेहूं खाता है न! बिना गेहूँ के

आदमी जी तो नहीं सकता ।" कितनी करुणा, कितना क्रन्दन था इन शब्दों में !

"हां, आदमी गेहूं खाता है, गेहूँ । और आदमी को औरत खाती है ! औरत ! !" कह कर शिवचरण ने एक उपहास किया और अपने हाथ के पत्तों से बेगम निकाल कर फर्श पर पटक दिया ।

मुंशी जी को लगा कि बेगम तड़प उठी । शिवचरण के इस शब्द से उनके कान जल गए, "आदमी गेहूँ खाता है और आदमी को औरत खाती है ! !"

एक बार पत्नी का चेहरा उन्हें याद आया । वे शब्द भी याद आए "क्या पता कब की बात लग जाती है । हर समय मरने मारने की... ...!"

मुंशी जी से रहा नहीं गया । वे उठ खड़े हुए । लाख रोकने पर भी वे सीधे घर भागे ।

जाने उनके मन में क्या डर समा गया था ।

मन्दिर के आगे और कब्रगाह के इसी ओर वह मूर्ति है।

एक बीस साल के युवक की मूर्ति। कोई बूढ़ा तपस्वी नहीं, बड़ा नेता नहीं, बिना नाम का यह जवान। सिर पर छोटी पतली पगड़ी, कुरता—हिन्दुओं की वेशभूषा का, पर साथ ही एड़ी और घुटने के बीच की निचाई का वह पतली बांह का सुथना, जैसा अब भी मुसलमान पहनते हैं, पहने है। इसीलिए निश्चय नहीं हो पाता कि यह हिन्दू की मूर्ति है या मुसलमान की। उसका एक हाथ उठा हुआ, मुट्ठी आधी बंधी हुई। मानो वह अभी-अभी मुट्ठी खोल कर, ऊँगलियां हिलाकर पुकारेगा, या हो सकता है केवल पंजा सीधा करके सलाम करने जा रहा हो। अवश्य ही उसका हाथ कुछ करेगा। और दूसरा हाथ उसके कुरते की जेब में है। वह भी लगता है कि शीघ्र ही कुछ निकालेगा। और सभी गांववालों को बांट देगा।

उसकी मूर्ति के नीचे, पांव के पास दो और निशान थे। इन्हें निशान क्यों कहें? ये तो दो चिह्न थे—किन्हीं दो घटनाओं के प्रतीक! एक ओर एक कंकाल बना था, हड्डी पसली का नरकंकाल! दूसरी ओर एक धान का पौधा बना था, बड़ी बाल के साथ। ये दोनों ही दो बड़ी घटनाओं के प्रतीक हैं। ये दोनों ही घटनाएं सभी को मालूम हैं। प्रत्येक बीतने वाली पीढ़ी यह

घटनाएं किस्सों के रूप में दूसरी पीढ़ी को सहेज जाती हैं। इस प्रकार हर एक को ये दोनों घटनाएं पूरी तरह याद हैं।

घटनाएं तो याद हैं पर इस मूर्ति का सजीव शरीर का किसी को कुछ ज्ञात नहीं, यह मूर्ति किसकी है यह निश्चित नहीं मालूम।

और जानने को कोई चिन्तित भी नहीं। गांव वालों के लिए उसकी वही कीमत है जो पीपल के नीचे के थाले के गोल-गोल पत्थर के शिव जी की। इसीलिए जब उस दिन पंचायत में रहमत काका के मुंह से उसके लिए निकला, "देव! देव की तरह वह था न, उस पर हमारे गांव को नाज है।"

और उसी दिन से उसका, उस मूर्ति का नाम 'देव' रख दिया गया। मूर्ति बने कितने दिन हुए उसका भी तो किसी को ठीक पता नहीं। हां, कहा यही जाता है कि इस मूर्ति ने अपनी इसी पत्थर की आंखों से गांव को तीन बार नष्ट होते देखा है। एक बार बहुत पहले जब प्लेग फैला था तो गांव चार दिन में ही साफ हो गया था और बाकी युवक और बच्चे और औरतें शहर भाग गए थे। बूढ़े गांव की हिफाजत के लिए रह गए थे। लेकिन हिफाजत करते हुए ही उनमें से एक-एक करके सभी उठ गए। यह प्लेग ऐसा ही भयानक था कि गांव में किसी एक को भी छोड़ना नहीं चाहता था। अगर उसका वंश चलता तो वह इस देव की पत्थर की मूर्ति को भी बीमार कर देता और मार डालता पर यह पत्थर का शरीर वह छू भी नहीं सका। और जब प्लेग ने सारे गांव को साफ कर दिया तब केवल देव की यह मूर्ति ही रखवाली के लिए बची रह गई थी।

प्लेग के चार महीने बाद जब बीमारी आगे के गांव की ओर बढ़ गई तो शहर भागे हुए लोग वापस लौटे। गांव के लिए चले थे तो सभी ने अपने काका, बाप, बाबा—जिन्हें छोड़ आए थे उनकी कुशल कामना की, फिर घर और खेत बारी की बात सोची। कुछ ही आगे बढ़े कि वह मूर्ति दिखी—दूर से। देव की विशाल मूर्ति! पत्थर की आंख चमक रही थी। शायद गांव के साथियों को वापस आता देख कर। और लौटते हुए लोग भी देख रहे थे—जितने पास वे आते थे, देव की पत्थर की आंखें अधिक चमकीली होती जाती थीं। लगता था देव का हाथ अधिक ऊपर उठ आया है और आधी बंधी हुई मुट्ठी खोल कर वह जल्दी-जल्दी हाथ हिला कर

सबों को बुला रहा है। और प्यारे साथी देव का यह आह्वान, आने वालों के पांवों में दूना बल भर रहा था। वे जल्दी-जल्दी बढ़ कर अपने देव की मूर्ति को एक बार छूकर देख लेने में तनिक भी देरी नहीं करना चाहते थे।

और इस प्रकार पत्थर की चमकीली आंखों की ज्योति-डोर के सहारे सभी साथी जब काफी पास आ गए और गांव में आकर जब उन्होंने पाया कि सारा गांव सूना है। जो रखवारी के लिए रुके थे वे खुद ही उठ गए, पर गांव का एक तिनका भी किसी ने नहीं छुआ है तो अपने-अपने बाबा, ताऊ, चाचा, बाप के शोक से तर आखें देव की मूर्ति को देख कर उसी पर स्थिर हो गईं।

और गांव के इस निर्जीव रखवारे के लिए सबों का दिल श्रद्धा और प्रेम से भर गया। सभी उस मूर्ति की ओर घूम पड़े। और उन सबों में सबसे प्रधान तुलसी चौधरी विह्वल होकर इस देव की मूर्ति के आगे सम्मान से झुक गए, तब सबों ने श्रद्धा से उस मूर्ति को छुआ और झुक कर प्रणाम किया।

फिर सब काम पहले की तरह कुछ दिनों में चलने लगा। गत प्राणियों का शोक लोगों ने भुला दिया। सभी अपने-अपने काम में लग गए। पर मूर्ति की पत्थर की आंखों की चमक वैसी ही रही। उसकी आधी मुट्ठी बंधी हाथ वैसा ही सलाम करने को उठा रहा।

एक दिन जब अपनी व्यस्तता से छुट्टी पाकर लोग बैठे तो तुलसी चौधरी ने एक बात कही जिसे कहने को वह बहुत दिनों से व्याकुल था और उनका कहना था कि सभी ने उनकी राय मान ली। उन्होंने कहा था, "हम लोग अपने घर के बूढ़ों पर, घर का भार छोड़ कर गए थे। लेकिन उन्हें भी निर्दयी मौत ने नहीं छोड़ा। और अवश्य ही जब उनमें से अन्तिम बूढ़ा मरा होगा तो उसने अपनी जिम्मेदारी देने के लिए किसी को पुकारा होगा। पर जब कोई न पहुँचा होगा तो इसी देव की मूर्ति को सब कुछ, गांव का सामान सहेज कर वह मरा होगा। और देखो न, इस पत्थर के देव ने किस लायकी से गांव की रखवाली की जो एक तिनका भी इधर का उधर नहीं हुआ।"

'हाँ, हाँ, इसमें क्या शक है। हम देव की इस सेवा को नहीं भूल सकते।" सभी सुनने वालों ने एक स्वर से कहा।

"तो हमें देव की इस सेवा के लिये कोई निशान बना देना चाहिए

कि आने वाले समय में लोग जान सकें।" तुलसी चौधरी ने मन की बात अब कही।

"हां, हमें देव की मूर्ति पर एक छाया बनवा देनी चाहिये।" एक ने राय दी।

"नहीं, हमें देव की मूर्ति के चारों ओर फूल पत्तियों का बाग लगाना चाहिये।" यह दूसरे ने राय दी।

"नहीं, नहीं, हमें कुछ ऐसे प्रतीक का निर्माण करना चाहिए कि वह देव की मूर्ति के साथ ही सदा अमर रहे।" इस तीसरी राय ने पहली दोनों को दाब लिया।

अन्त में तुलसी चौधरी ने ही राय दी, "बहस बेकार है। हमें चाहिए कि हम इसी मूर्ति में कोई निशान बना दें जो सदा के लिए होगा।"

"हाँ, पर निशान क्या होगा?" एक ने पूछा।

"हम उस पर एक मृत्यु-चिन्ह बनायेंगे।" चौधरी ने धीरज से कहा।

"मृत्यु-चिन्ह!"

"मृत्यु-चिन्ह!!" सभी कण्ठों ने दुहराया और समझ न सके।

"मृत्यु चिन्ह से मेरा तात्पर्य है कि हम देव के पांव के पास वह निशान बनावें जो मृत्यु का चिन्ह होता है यानी जो मृत्यु के पश्चात् जीवित शरीर का रूप होता है।" चौधरी ने स्पष्ट किया।

"पर वह क्या रूप होता है?" एक ने पूछा। सभी के कान सुनने को उत्सुक हो गए।

चौधरी क्षण भर को रुके। सिर की पगड़ी को उतारा और बाएं हाथ में थाम लिया। दाहिने से सिर खुजलाया और फिर पगड़ी सिर पर रख कर अकड़ कर बैठे और तब कहा, "वह रूप होता है—कंकाल! हड्डी पंसली का खाली पिंजड़ा!"

"कंकाल, खाली पिंजड़ा!" सबों के शरीर में कंपकंपी हो गई—तेजी से सिर हिल गया।

और निर्णय के अनुसार शीघ्र ही कंकाल का चित्र खोद दिया गया, पांव के पास। प्लेग के आगमन की याद अमर हो गई।

अब इसे कभी कोई भूल न सकेगा।

और एक युग बीत गया। कई गर्मियां, सर्दियाँ और बरसातें बीतीं। वर्षा में पानी बहा,सर्दी से नमी आई और गर्मी ने फिर सब बराबर कर दिया और नए लोगों ने देखा तो समझा कि कंकाल का यह निशान मूर्ति के निर्माण के समय का ही होगा।

फिर एक दूसरा वज्रपात हुआ, गांव पर! आधा सावन भी बीत गया पर पानी न बरसा—बरसे क्या, वहां तो आसमान में गज भर का निशान भी काले बादल का न बना। तो क्या यह वर्ष यों ही बीतेगा—पानी नहीं बरसेगा—मेघा नहीं टर्राएगा—बिजली नहीं चमकेगी? और अगर पानी और पन्द्रह दिन न बरसा तो खेत कैसे जुतेगा! धान कैसे पैदा होगा और फसल कैसे होगी?

पन्द्रह दिन और बीता—सारा सावन जलता हुआ चला गया। पर बादल का एक टुकड़ा भी कभी आकाश में न दौड़ा। धूप का ही राज्य रहा और बड़े बूढ़ों ने सिर हिलाकर कहा, "यह बुरे दिन आए हैं—अकाल पड़ेगा अकाल!"

और सचमुच जिस दिन आधा भादों बीता गाँव के जुगुल बनिया ने चावल का भाव छः सेर से घटा कर पांच, साढ़े चार, तीन और पौने तीन सेर किया तो सबों के कान खड़े हो गए।

जिस दिन जुगुल ने आठ आने में केवल एक सेर चावल शितला कहार को दिया उसी शाम को जाने कितने घरों के जेवर और कीमती बर्तन बिक गए। और धीरे-धीरे आधा क्वार भी कार्तिक को पास आता देख पीछे भाग गया तो लोगों ने पानी की आशा ही छोड़ दी।

जुगुल की तोंद फूली, धन बढ़ा। पत्नी के हार और कर्णफूलों की साध पूरी होने लगी। और गांव कंगाल होने लगा। दो सेर का चावल ले कर कौन कितने दिन खाता। बड़ों बड़ों को जुगुल के आगे नाक रगड़नी पड़ी, पर बुरी दशा तो उनकी थी जिनके घर के बर्तनों के अलावा खाट के पावे तक जुगुल की कोठरी में बन्द हो चुके थे। रुपये के दो सेर के चावल के बदले में।

उसी प्लेग की तरह मृत्यु ने फिर गांव के हर घर की परिक्रमा शुरू

की। सुबह, दोपहर, शाम, रात्रि, सभी समयटपाटप मौत होती। रोना बढ़ा। लाशों का अम्बार लगने लगाश्मशान घाट पर।

उस दिन अपनी पत्नी को जलाकर लौटने पर जब शितला ने अपनी जवान बेटी को, बारह रुपये लेकर रजक के साथ शहर जाने की इजाजत दे दी तो पन्द्रह दिन तक फिर शितला के यहां दोनों शाम चूल्हा नियमित रूप से जला हड़ियां ठनकीं। इस मुसीबत में बेटी काम आई। बारह रुपयों की कीमत नहीं, पर चौबीस सेर चावल के क्या माने हैं, यह कोई शितला से ही पूछता!

पन्द्रह दिन में जब वह चौबीस सेर चावल भी शितला के अकेले पेट में सोख गए तो सोलहवें दिन फिर चूल्हा ठण्डा रहा। अब वह क्या करता। बरतन-कपड़े, खेत, बारी तो बिक ही चुके थे। जवान लड़की भी पन्द्रह दिन का चावल देकर शहर चली गई थी। अब भला क्या बचा था जो और चावल का प्रबन्ध हो पाता। तीन दिन उपवास करके शितला ने चौथे दिन जुगुल बनियां के यहां हुए भोज की जूठी पत्तलें चाटीं और कुछ शान्ति पाई कि शाम तक लेने के देने पड़ गए। घर आते ही उसे कै और दस्त हुई। बुरी तरह वह बीमार पड़ा। सुद्धू लुहार उसे देखने आया। शितला को दोस्ती निभाने सो घर पहुँच कर वह भी कै और दस्त में मरने लगा। शितला मरा, सुद्धू मरा और गांव में जिसे सुनो उसे हैजा! अकाल में हैजा।

और अब तो किसी की खैर नहीं। फिर सारा गांव शहर की ओर लपका। जो निकल पाए, भाग गए। जो जरा भी हिचके हैजे के उदर में समा गए और इस बार कोई भी रखवारी को न रुका। जिसे जहां ठिकाना लगा चला गया। और सारा गांव श्मशान बनकर रह गया। जाते समय लोगों ने एक बार देव की मूर्ति को देखा और मन ही मन उससे गांव की रखवारी और रक्षा की प्रार्थना की।

लोग गांव छोड़ कर चले तो गए पर दूर जाकर जितने भी मुड़कर देव की मूर्ति को देखा तो लगा मानो एक हाथ उठा कर वह सबों को वापस लौट आने की राय दे रहा हो। लोगों ने देखा पर किसी ने देव की बात मानने का निश्चय न किया।

अब एक बार फिर मुर्दे की देह जैसे ठंडे और स्पन्दन-हीन गांव

के बीच देव की मूर्ति अकेली रह गई। पर उसका हाथ अब भी उठा था। शायद कोई गांव वाला देख कर लौट आता! और साथ ही उसकी पत्थर की आंखों की चमक अब उस सूने वातावरण में फीकी पड़ गई।

पर आंखों की चमक का यह सूनापन अधिक दिन तक न रह सका। दूसरी फसल के आते न आते, पूस में पानी बरसा और पुनः एक दोपहरी को शहर से वापस लौटते हुए ग्रामीणों ने अपने पत्थर के इस देव को दूर से हाथ उठा कर पुकारते पाया—आज देव की पत्थर की आंखें पुनः चमक रही थीं। गांव वाले देव की मूर्ति को छूकर अपने शरीर में बल का अनुभव कर रहे थे।

वर्षों पहले प्लेग की महामारी से भागने पर लौट कर लोगों ने मृत्यु-चिन्ह—कंकाल बनाया था अतः इस बार भी लौटे हैं और उनके न होने पर देव ने फिर गांव की देखभाल की है इससे इस बार भी कोई न कोई प्रतीक अवश्य बनाना है।

तो क्या इस बार भी मृत्यु-चिन्ह ही बने?

नहीं, यह अशुभ होता है। पिछली बार बना कर देख लिया है। इस बार कुछ और बने।

और विचार-विनिमय के बाद लोगों ने एक दिन छेनी-हथौड़ी की सहायता से धान का एक पौधा अंकित किया—धान के पौधे में एक बहुत बड़ी बाल भी थी।

और इन्हीं दोनों घटनाओं की स्मृति में दो निशान देव के दोनों पांवों के पास बने हैं।

दोनों ही घटनाएं बहुत पुरानी हो गईं। दोनों निशान पुराने पड़ गए।

नई पीढ़ी आई है। नए विचार हुए हैं। गांव के जमींदार चिन्तामणि तिवारी का लड़का शहर से मैट्रिक पास कर के लौटा है। उसके आते ही गांव में जैसे सरस्वती ने प्रवेश कर लिया है। शिवाला के पास ही पीपल के के नीचे इस मैट्रिक पास की देखरेख में एक पाठशाला खुल गई। लेकिन उसमें केवल ब्राह्मण के लड़के ही पढ़ सकते हैं। चिन्तामणि तिवारी का विचार है कि विद्या के अधिकारी केवल ब्राह्मण ही हैं।

पाठशाला में बेटों के न पढ़ पाने का दुःख न तो झगड़ू तेली को है, न कल्लू बारी को, न सुरजू चमार को, पर खैरात मियां और करीम खां को तिवारी जी का यह व्यवहार अच्छा न लगा। बच्चे सभी के बराबर होते हैं। उन्होंने भी मसजिद के मौलवी साहब से चार आना फी लड़का की दर से एक मकतब खुलवा दी है, जहां सुबह-शाम कुरानशरीफ पढ़ाई जाती है। भला यह कहां का इन्साफ है कि मुसलमान के लड़के न पढ़ें!

इस रामनवमी के दिन तो बड़ा ही बुरा माना खैरात मियां ने, जब तिवारी जी के मैट्रिक पास लड़के ने अपनी खुशी से शिवाले में सुफेदी करवाई और शाम का प्रसाद, परम्परा के नियमानुसार खैरात, करीम तथा अन्य मुसलमानों के यहां लड्डू और चने की दाल नहीं भेजा। और मन के गांठ की भी हद हो गई जब खैरात ने कई दिन ख्याल करके देखने पर निश्चित जान लिया कि हिन्दुओं ने पीर साहब की मजार पर भी दिए रखना छोड़ दिया है। खैरात ने तो मन में निश्चय कर लिया है कि जब अब यही सब होना है तो इस दशहरे पर न तो वह रामलीला में रावण का वध देखने जाएगा, न दीवाली को दिए जलाएगा और न होली में किसी के यहां ठंढाई पीने जायगा।

इस प्रकार खैरात के मन में गांठ बंधती ही गई। एक दिन शहर से आए उस लकड़ी के सौदागर अशगर हुसेन ने ज्यों ही यह बताया कि अब मुसलमानों को इन मामलों में दबने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि शहर शहर में सभी इस्लाम के बन्दों ने मिल कर 'मुस्लिम लीग' नाम की एक जमात तैयार कर ली है जो हिन्दुओं की ज्यादती का बदला लेगी, तो खैरात की बांछें खिल गईं। वह अवश्य ही जी जान से इस जमात की सहायता करेगा।

इस प्रकार की चर्चाओं को पैदा हुए केवल एक साल ही हुए थे कि हिन्दुओं और मुसलमानों ने गांव की सभी चीजों पर धर्म की मुहर लगा दी। मन्दिर की सफेदी तिवारी जी कराते और पीर की मजार की सफाई मुसलमान चन्दे लगा कर कराते। खटाई में पड़ी तो केवल देव की मूर्ति। हिन्दुओं ने इसलिए नहीं अपनाया कि वह सुथना पहने था और मुसलमानों ने इसलिए नहीं पूछा कि वह हिन्दुओं की पोशाक, कुरता और पगड़ी पहने था। परन्तु

पत्थर के इस देव को मानव की उपेक्षा की तनिक भी चिन्ता नहीं। उसका हाथ अब भी उसी ऊँचाई पर उठा था और पत्थर की आंख वैसी ही चमकती थीं।

धीरे-धीरे पांच साल बीते। हिन्दू और मुसलमानों ने अलग-अलग सब अपना लिया। एक दूसरे के धार्मिक मामलों में किसी को दिलचस्पी नहीं। पर गांव के सब से बूढ़े चौधरी जब हिन्दू-मुसलमानों की रोज की तकरारों से ऊबकर अपना सारा समय देव की मूर्ति की साया में बैठकर काटने लगे तो व्यंग में हिन्दू और मुसलमानों ने अलग-अलग अपनी पंचायतों में कहना शुरू किया कि यह चौधरी मरेगा तो इसे कोई पूछेगा भी नहीं। लाश यहीं मूर्ति के नीचे ही सड़ेगी।

कि एक दिन तिवारी के विद्वान बेटे ने ब्राह्मणों को एक पंचायत में बताया, "कुछ भी हो, हम तो गाय नहीं कटने देंगे चाहे इसके लिए जान भी देनी पड़े।"

सभी ब्राह्मणों ने दाहिने हाथ के अंगूठे में फंसा कर जनेऊ की कसम खाई, "हां, गाय का कटना, माता का कटना है। हम यह जीते जी नहीं होने देंगे।"

और करबला पर जुमा की नमाज के समय लकड़ी के उसी सौदागर ने बताया, "कोई चिन्ता नहीं—एक बार लड़कर सब ठीक कर लेना है।"

तिवारी के बेटे ने खबर पाई तो गिन कर पूरे पचास लाठियों में रोज सुबह-शाम कड़ू तेल लगवाना शुरू कर दिया और अखाड़े में कुश्ती के बाद लाठी भांजने और लड़ने का नियम भी चालू कर दिया।

खैरात ने यह खबर अशगर हुसेन को दी और इस बार शहर से लौट कर वह एक काठ की पेटी में गिन कर पचहत्तर छूरियां लेता आया। "अब तो लड़ना ही पड़ेगा। चाहे जो कुछ भी हो।" उसका तो यही प्रचार का विषय था।

यह सब बूढ़े चौधरी ने देखा तो कांप गया। देव की मूर्ति को देखा। देव की पत्थर की आंखों की चमक से कुछ सांत्वना मिली।

कि एक दिन गजब हो गया। करीम खां ने अपने यहां गाय-बैलों के सौदागर—एक कसाई को ठहरा लिया। रात हो गई थी इसलिए दूसरे गांव से लाई तीन गायों को करीम के द्वार पर ही बांधकर वह कसाई उसी

के घर में सो रहा।

तिवारी के सपूत को जब पता लगा तो रात ही रात उसने गायें खुलवा लीं और अपने चौपाल में बांध लिया। सवेरे करीम को पता लगा। पहले तो मुंह से मांगा फिर चार-पांच के साथ आकर जबरदस्ती करना चाहा और इसी में झगड़ा हो गया। महीनों से तेल पीती लाठियां आज काम आएंगी।

तभी धीरे से खैरात ने पचहत्तरों छूरियां हर मुसलमान घरों में बांट दिया और उधर तिवारी के दरवाजे पर लाठियां चटखीं, यहां कब्रगाह के पास घण्टे भर में ही सत्रह हिन्दुओं के पेट में छुरियां घुसीं और वे सभी तड़प कर मर गए।

रात को जब सब सो रहे थे तो अशगर हुसेन ने खैरात को राय दी कि अधिक मारपीट से जीत नहीं होगी। इन्हें दूसरे तरीके से मारना होगा और वह तरीका यह है कि आज ही और रात ही रात को हिन्दुओं के घरों में आग लगा दो। सबेरे तक सब साफ रहेगा। सारा गांव अपना रहेगा।

खैरात के लिए तो अशगर हुसेन की एक एक राय अक्षरशः ठीक थी। झटपट मशालें बनीं और दो बजे के लगभग अंधेरे में हिन्दुओं के छप्पर जल उठे। आग लगी। हिन्दू इधर-उधर भागने लगे। स्त्रियां-बच्चे चीत्कार में डूब गए। पर तिवारी को पता लगते देर न लगी कि किसने सब किया। उसने भी जहां जहां मौका पाया एक-एक जलती मशाल मुसलमानों के छप्परों पर फिंकवा दिया और सारा गांव धूं-धूं करने लगा। गांव के छोटे छोटे फूस और खपरैल के मकान! एक भी सबूत न बचा। रात का समय था किसी का कुछ किया धरा भी न हो सका।

सवेरे सूरज निकलने के पहिले ही सबों ने देखा कि सारा गांव बुती हुई चिता की तरह निष्प्राण था। किसी का घर नहीं था सभी के स्त्री-बच्चे पेड़ों के नीचे बैठे बिलख रहे थे।

आग ने, जलाते समय यह न देखा कि कौन विद्वान तिवारी का मकान है या कौन स्वाभिमानी खैरात मियां का। लुट कर सभी की आंखें, खुल गई थीं। अब न तो तिवारी को पचास लाठियों का घमण्ड था न खैरात को पचहत्तर छुरियों का भरोसा।

चौधरी ने रो रो कर कहा, "मैं मरूंगा तो मेरी लाश सड़ेगी न! कोई नहीं उठाएगा—मत उठाना पर अपनी दशा देखो। जीते जी लाश बन गए हो! भला तुम्हें कौन अब उठाएगा? तुम कहां रहोगे?"

तिवारी के बेटे ने रोकर कहा, "पहले खैरात ने आग लगवाई थी।"

खैरात ने कहा, "करीम के दरवाजे से गाय इन्होंने ही खुलवाई थी।"

चौधरी ने कहा, "तुम्हारी अक्ल अभी भी ठीक नहीं हुई। तिवारी और खैरात का भेद अब भी नहीं भूले हो। तुम्हें अभी और बर्बाद होना है। तुम्हें अभी स्त्री-बच्चों से भी हाथ धोना पड़ेगा। अगर सम्हल जाओ तो बड़ी बात है।"

"तो क्या करूं?" गांव वालों ने पूछा।

इसका जवाब मैं नहीं दे सकता—इस पत्थर के देव से पूछो जो निर्जीव है पर तुमसे ज्यादा ज्ञानी है।"

लोगों ने देव की मूर्ति को देखा कुछ समझ में न आया। गांव भर में अशगर हुसेन का पता न लगा। वह शहर से आया था, गांव में आग लगाने, सो भस्म करके भाग गया।

चौधरी ने कहा, "यह हिन्दू-मुसलमान का भेद गांव में नहीं होता। शहर की बात छोड़ दो। शहर और गांव में जमीन आसमान का फर्क है। देखो न अशगर आया था, तुम्हें बरबाद कर के भाग गया न?"

सभी जानते हैं कि जरूर भाग गया। पर किसी ने चौधरी का उत्तर न दिया। सभी देख रहे थे कि रात की आग से जल कर मन्दिर भी काला हो गया है—कब्रगाह भी राख से ढग गई है। पर देव की मूर्ति उसी प्रकार हाथ उठा कर गांव को सलाम कर रही है। देव की पत्थर की आंखें उसी चमक में चमक रही हैं।

शायद यह चमक कभी भी फीकी नहीं पड़ेगी।

और इसके दूसरे ही दिन अपना-अपना घर बनाने के पहले ही लोगों ने देखा कि तिवारी का बेटा और खैरात आज फिर एक संग छेनी हथौड़ी लिए उसी मूर्ति के पांव के पास कुछ बना रहे थे। जब बन गया तो लोगों ने देखा—एक लाठी और छुरी बनी थी।

आगे आने वाली पीढ़ियां देव की इस पत्थर की मूर्ति के नीचे बने तीनों प्रतीक देखेंगी और तीन कथाएं कहेंगी। तीन मौत की यादगार, मृत्यु-चिह्न!

और निर्जीव देव इसी प्रकार हाथ उठा कर इन्हें सदा सलाम करेगा और उसकी पत्थर की आंखें इसी चमक से चमक कर एकता का संदेश देंगी।

रात भर का
कर्फ्यू

शहर का दंगा तो जोरों पर था ही।

अब तक इस मुहल्ले में जो शांति थी, आज दोपहर को वह भी भंग हो चुकी थी। दो हत्यायें हुई थीं। रात भर का कर्फ्यू लग गया था। वातावरण शांत और भयभीत था। जैसे एक मुर्गा काटा जा चुका हो और दूसरे कई मुर्गे झाबे के नीचे बैठे अपनी अपनी कट मरने की बारी का आसरा देख रहे हों। लोगों का अनुमान था कि आज की रात खैरियत से नहीं कटने की। एक दो हमले तो अवश्य ही होंगे।

शहर के कोतवाल का अर्दली—मोती, जो इसी मुहल्ले में रहता है, ड्यूटी पर जाते समय कह गया था कि उसे कोतवाली और खास तौर से कोतवाल के दफ़्तर से यह खबर मिली है कि आज रात को मुसलमान इस मुहल्ले में जरूर धावा बोलेंगे। पांच सौ मसालें रसूलपुर में ठीक की गयी हैं।

मोती अर्दली की बात अवश्य ही बहुत सच्ची होगी, कोतवाली से जो पता लगा था। इसीसे मुहल्ले के सभी लोग भय खाकर इस कत्ल की रात का इन्तजार कर रहे थे। उन्हें आज किसी का भरोसा नहीं—न पुलिस का, न सरकार का।

आज दोपहर का हमला तो इसका सबूत है। वह हकीम दर्जी, जो बदमाश, अपने को कल तक 'नेशनलिस्ट' कहता था, उसके हावभाव तो सबेरे से यही बता रहे थे और हमले के समय भी तो वह वहीं खड़ा भोला महाजन की दूकान पर बीड़ी पी रहा था। घुलमिल कर बातें कर रहा था। और ज्यों ही हमला होने को हुआ कि वह चट से गायब हो गया। हमला

करनेवालों में, रसूलपुर की गली से बाहर आनेवालों में वही था जिसने पहली लाठी चलायी थी।

हिन्दू सभा के लीडर बजरंग जी तो पहले से ही कह रहे थे कि इन 'नेशनलिस्टों' पर विश्वास नहीं करना चाहिये। वे तो ललकार कर कहते थे कि यह तो सभी आस्तीन के साँप हैं, साँप !

और आज सब पता लग गया! दूध का दूध और पानी का पानी। कहां हैं कांग्रेस वाले ! अब दें अपनी सफाई। चिल्लाते थे—हिन्दू मुसलिम एक हैं।

कांग्रेस के विरोधी संगमलाल को तो अब बिलकुल खुला मौका मिल गया था—इस प्रकार की बातें करने का। तीन बार कांग्रेस के मुकाबले वे म्युनिसिपेलिटी का चुनाव हार चुके थे—भला यह कैसे भूलते।

तो आज दोपहर को हमला हो ही गया !

दो सौ घरों का यह छोटा सा मुहल्ला। मुहल्ला बहुत पुराना है। बगल का यह प्राचीन फाटक तो अकबर के युग का साथी है। कहते हैं, यह फाटक सरहद अलग करने को बना था। शहर यहीं से शुरू होता है। और इसी के कारण मान लेना पड़ता है कि यह मुहल्ला भी बहुत पुराना होगा। एक ऐसा मकान तो अब भी है जो यदि अच्छा होता तो कोठी या हवेली के नाम से पुकारा जाता। पर अब तो खण्डहर से बढ़कर कुछ नहीं है। इसके लखावरी ईंटों को छेदीलाल ने एक ओर टीला बना कर गंजवा दिया है। और अपने मतलब भर की जगह निकाल कर लकड़ी की एक टाल खोल ली है। यदि छेदीलाल का काम अधिक बढ़ा तो वह इन ईंटो को कहीं और फेंकवाने का प्रबन्ध करेगा ताकि अधिक लकड़ियां इकट्ठी करने को जगह मिल जाए। तो जब वह ईंटों का टीला हटा दिया जायगा, तब प्राचीन कहा जाने का रहा सहा निशान भी मिट जाएगा।

इस मुहल्ले में हर तरह के लोग रहते हैं—बल्देव प्रसाद बजाज, करोड़ों के आसामी। बड़ी तोंद और बड़ी कोठी वाले। चतुर्भुज, किसी सरकारी आफिस का क्लर्क-तेरह साल कुर्सी की शोभा बढ़ाकर इस बार बड़ा बाबू होने का अवसर आ गया है। सालिगबहू विधवा भी—जिसकी कोई भी आमदनी नहीं—केवल घर का आधा हिस्सा किराए पर उठाकर उसी रुपये से गुजर करती हैं, बेनी ठाकुर भी, जो बहुत आलसी है पर चौराहे पर एक पेटी बिस्कुट रखकर वह भी एक-डेढ़ रुपया बना ही लेता है। बसन्ता

इक्कावाला भी! बाबा, एक साधू भी जो एक मन्दिर का अध्यक्ष है। तीन मूर्तियों के सहारे—उनके प्रसाद के सहारे ही मस्त है। और दो भिख-मंगे भी, जो रात भर उस कोठरी में दुबके रहते हैं और सबेरा होते ही सड़क पर निकल कर बैठ जाते हैं और हर राहगीर को दुवाएं देकर पैसा इकट्ठा करते रहते हैं।

हां तो, दोपहर के हमले के बाद से जो कर्फ्यू लगा तो सभी अपने-अपने घर आ गए। सड़क पर या किसी दूकान पर भी तो नहीं ठहर सकते थे! पुलिस वाले बिलकुल भी रहम नहीं खाते! और अपने घरों में घुसे लोग जब ऊब गये तो बाहर निकल कर रात में होने वाले हमले से बचाव की चर्चा करने लगे।

धीरे-धीरे चारों ओर से सन्नाटा कमरे में घुस आया। एक अन्धेरा छाने लगा। शाम हो गई, चिराग जल गए। फिर जब रात कुछ भींगी तो लोगों का दिल और परेशान होने लगा। जाने क्या हो आज की रात में! म्युनि-सिपैलिटी का लैंप भी आज नहीं जला था। उससे ही कुछ न कुछ उजाला होता! कारण यह था कि जो आदमी रोज लैम्प जलाने आता था वह मुसलमान था और हिन्दुओं के इस मुहल्ले में आने से उसने इन्कार कर दिया था।

जब करीब आठ बजे और रात पूरी तरह अपनी हुकूमत चलाने लगी तो लोग खाना खाकर बाहर आए। हरेक घर की औरतों को यह बता दिया गया कि यदि हमला हो तो वे चीखें चिल्लायें नहीं—शान्त, चुपचाप रहें। नहीं तो लड़ाई से अधिक शोर तो दोपहर को इन औरतों के बेमतलब रोने चिल्लाने का था।

इस समय मुहल्ले में दो जमघट हुए। एक तो बल्देवप्रसाद बजाज के पड़ोसी डाक्टर साहब के चौतरे पर जहाँ पढ़े लिखे आदमी ही बैठ सकते थे—यही उस चौतरे की परम्परा थी। बाकी कुछ बेपढ़े और नीच जाति के आवारों में गिने जाने वाले लोग, सभी मंदिर के चौताल में इकट्ठे होकर अपने अपने गुट की बातें कर रहे थे।

चौबीस घन्टे का कर्फ्यू जो था और रात भर जागना भी। फिर जब कल कर्फ्यू टूटेगा तब देखा जायगा।

इधर एक डेढ़ साल से मंदिर से लगे इस कोठे वाले आधे कच्चे और आधे पक्के मकान में एक परिवार आ गया है। उसकी जाति का किसी

को विश्वास नहीं—ये अपने को तो कुरमी बताते पर लोग विश्वास नहीं करते। इस परिवार में इने गिने ही सदस्य हैं। सभी मेरठ की ओर के किसी गाँव के रहने वाले हैं। परिवार का मुखिया एक बूढ़ा आदमी है जो यहाँ आँख का इलाज कराने आकर रहा था फिर आँख तो अच्छी नहीं हुई और वह गया भी नहीं। उसकी आँखों से धुंधला दिखाई पड़ता है। पहले वह मेरठ में चाट की दूकान करता था—पर अब जब आँख से कुछ दिखता ही नहीं तो काम क्या करे! लोग पैसा देकर अठन्नी की बात करते हैं। अब तो उनका गुजर भी मुश्किल से होता है। उसकी पत्नी, एक जवान लड़की और एक दस ग्यारह साल का छोटा लड़का था। लड़के के दाहिने हाथ में छः उंगलियाँ थीं जिससे लोग उसे छंगू कहते थे। नाम तो उसका कुछ और ही रहा होगा पर इस समय किसी अच्छे नाम के अलावा 'छंगू' ही अच्छा लगता है। सुबह होते ही जब पत्नी और लड़की कहीं चौका बर्तन करने चली जातीं तो वह बूढ़ा भजन और सिनेमा के दो एक गाने गुनगुनाने लगता जो उसने दूसरे छोकरों को अक्सर गाते सुना था। जब से उसकी आँख खराब हुई है तब से लगातार उसकी आँख से पानी बहा करता है जो सचमुच बहुत घिनौना लगता है। लगता है, मानो मन का सारा मैल पानी होकर आंख से बह रहा है।

और वह लड़की! यौवन तो नदी की बाढ़ की तरह उस पर उभर आया है। उसके चेहरे पर चेचक के कुछ दाग हैं जो लड़कपन में हो गए थे, उनपर एक लाली छा गई है। उसके माथे पर बाईं ओर एक बड़ा सा तिल था-जो काफी सुन्दर लगता था। मुहल्ले के निम्न वर्ग के युवकों के लिए वह मुहल्ले की शान थी। कुछ तो हर समय उसकी ही बात सोचते। किसुन अपनी सिगरेट-बीड़ी की दूकान से पैसे बचा बचाकर अपना व्यापार और दूकान बढ़ाने के अलावा 'लंकलाट' का पैजामा और रंगीन कमीज, सिलाने में ही सब खर्च कर डालता। उसे विश्वास था कि उसके इन कपड़ों का कभी न कभी उस पर अवश्य ही कुछ न कुछ असर पड़ेगा। कभी कभी तो वह छंगू को भी दो या चार पैसे की मूंगफली भेंट करता।

डाक्टर साहब के चौतरेवाले जमघट में शामिल न हो सकनेवाले युवकों को यह मंदिर के बाबा बहुत पसन्द थे। उनका भी अपना एक इतिहास है। ये किसी बड़े घर के थे। यहां कुंभ नहाने कभी आए थे उसी में खो गए थे, फिर किसी साधू के संग लगकर सारा हिन्दुस्तान-चारों धाम

हो आए थे। जब वह साधू भी मर गया तो प्रयाग आ गये और 'भगवान की ही कृपा' से यह मंदिर उन्हें पूजा करने और रहने को मिल गया था। ये चरस पीने के शौकीन थे, इससे इन्हें मिलाए रखने के लिए लोग इन्हें 'बाबा' कहते थे। यों जब उनका मिजाज बिगड़ता और मुहल्ले भर के लोगों को यह गाली देते तो सभी एक मत हो इनको यहाँ से भगा देने का निश्चय कर लेते थे पर 'बाबा' के गुस्सा के समाप्त होने के साथ ही लोग अपना निश्चय भी बदल देते थे। वे कुछ चिड़चिड़े थे ही!

आगे चलकर एक पार्क है। इसके आगे यह जो तीन-चार मकानों का एक गृह-समूह सा है वह मध्यम वर्ग के लोगों का प्रतिनिधित्व करता है। नीचे, बाहर की निकास वाली एक कोठरी में दीनानाथ नामक एक युवक रहता है। पूरा समाजवादी! कई वर्ष हुए उसने इन्टर पास किया था। तब वह पतलून और 'फ़्लेक्स शू' पहनता था, अब केवल पाजामा, कुरता और बाटा की चप्पल पहनता है। यही तो समाज का सच्चा रूप था न! नौकरियां उसे कई मिलीं पर उसने उन्हें कभी नहीं स्वीकार किया। वह अन्य 'कामरेडों' की तरह बहुत जोशीला और भावुक नहीं था। जब बातें करता तो बहुत तौलकर, और अधिक से अधिक विद्रोही शब्दों का ही प्रयोग करता। कार्लमार्क्स के उदाहरण तो उसकी जबान पर लिखे थे। पर उस दिन जब कोतवाली के सामने विद्यार्थियों के एक शांतिपूर्ण जुलूस पर पुलिस-वालों ने बिना कारण ही झूठे फायर किए तब वह घबराकर भाग खड़ा हुआ था और जब भागता हुआ एक इक्के से टकरा गया तो पांव से, खून बह निकला। मानो खून तो बहना ही था—चाहे पुलिस की गोली से, चाहे इक्के के घोड़े की टापों से। जब वह लंगड़ाता हुआ घर आया तो लोगों ने उसकी बहादुरी की दाद दी—अवश्य ही बहुत काम किया होगा तभी तो पांव में चोट आई! दीनानाथ...बेचारा......!

पर अपनी कुर्बानियों का उसे पता था।

उसकी कोठरी के ऊपर की कोठरी में एक और युवक रहता था जो कवि था। बंगाली तो नहीं था फिर भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रतिनिधि। उर्दू के शायरों में इक़बाल और जोश का कायल था, और हिन्दी? हिन्दी का कवि होकर ही तो उसे हिन्दी का और कोई भी कवि प्रभावित न कर सका। उसका अनुमान था कि हिन्दी में अच्छे कवि हैं ही नहीं। कभी रहा होगा तुलसी और सूर का जमाना।

यह कवि महाशय किसी प्रेस में छिहत्तर रुपये मासिक पाते हैं—प्रूफ-रीडर हैं। देहात में माँ, बहन और कुछ खेत आदि है जिसकी देखरेख को बीस या पच्चीस रुपये प्रतिमास भेजकर बहुत बड़ी जिम्मेदारी से छुट्टी पाते थे। बाकी से महीना भर का खर्च और नई पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएं खरीदते। कभी कोई मित्र आ जाता तो यही कहते, "देखो न, इतने अखबार आकर पड़े रहते हैं कुछ भेज ही नहीं पाता बेचारों को। छुट्टी ही नहीं मिलती, क्या करूं?"

कई महीने से उसकी खाट टूट गई है जिस पर वह सोता है पर साढ़े पांच रुपये न बचा पाने से वह खाट भी नहीं बन पाती और अब-वह जमीन में ही सोने लगा है। हर महीने वह नई खाट बनवाने का निश्चय करके चलता पर बाजार पहुंच कर खाट के स्थान पर वह अवश्य ही कोई उपन्यास या कोई दूसरी पुस्तक खरीद लाता है और खाट की बात दब जाती है खाट के अलावा साहित्य का उसके जीवन में अधिक महत्व है। जब रात को कभी-कभी नींद आने पर सोने की इच्छा न रहती तो वह टैगोर की गीतांजलि से बंगला में गाना शुरू कर हिन्दी की किसी पत्रिका में छपी कविता तक गा जाता। उस समय ऐसा लगता मानो सचमुच किसी पुराने भुतहे मन्दिर में वर्षों बाद कोई मोटे स्वर में श्लोक पढ़ रहा हो। उसके कविता पाठ पर समाजवादी युवक दीनानाथ कभी कभी चिढ़ जाता था। उसके मार्क्स की थ्योरी और कविता के सरस रस में कोई साम्य नहीं। कविता में वह दूसरे दिन होने वाली मजदूरों की हड़ताल का प्रोग्राम भूल जाता।

दो मकान और आगे, डाक्टर के मकान के बिल्कुल सामने एक बनिया की छोटी सी दूकान—पंसारी और बिसात-खाने की है। दूकान देखने में तो बहुत बड़ी न थी पर बर पूरे घर, में वह बनिया अकेला रहता था—दो छोटे छोटे बच्चे और बहुत सुन्दर पत्नी के साथ। उसका परिवार तो ऊपर के हिस्से में ही रहता था। नीचे का बड़ा कमरा तो रईसी का नमूना था। खूब सजा, झाड़ और फाड़नूसों के अलावा बड़े बड़े रंगीन जर्मनी के छपे चित्र—भगवान कृष्ण की रास लीला और वाजिदअली शाह की बेगमों के। मुहल्ले में किसुन के बाद इसी के अच्छे कपड़े देखने लायक होते थे। लोगों को इसका यह ठाट और छोटी सी दूकान दोनों को देखकर किसी पर विश्वास न होता। परन्तु सच बात तो कम लोगों को ही ज्ञात थी। उसका यह ठाट

उस टुटपुँजिए दुकान पर नहीं था—था उसके प्रसिद्ध पेशे—जुआ लिखाने पर। इक्केवालो से लेकर मुहल्ले के साधारण हैसियत के सभी लोग रोज रात को शमिल होते–तब बनिया के मकान का नीचेवाला कमरा जगमगा उठता।

मुझे तो बड़ा आश्चर्य हुआ जब उस दिन देखा कि उस रात की बैठक नें डाक्टर साहब भी शामिल हुए। अच्छी हैसियत के बुजुर्ग माने जाने वाले वह डाक्टर, मुझे तो उनके चेहरे से तब भी एक नादानी टपकती सी लगी। उस कमरे के बाहर कौन कह सकता था कि डाक्टर भी जुआरी होगा। लेकिन उस दिन तो हमें विश्वास करना ही पड़ा और तो फिर बहुत सी बातें सुनने में आयीं। लोगों ने तो यहाँ तक कहा कि डाक्टर ही तो बनिया के घर का सारा खर्च चलाते हैं! और भी सुना कि डाक्टर का उस बनिया की सुन्दर पत्नी से कुछ गलत सम्बन्ध है। कभी-कभी डाक्टर की बग्घी में बैठकर रात में वह होटल भी जाती है।

हाँ, तो आज रात को हमले का डर था! जब साढ़े दस भी बज गये और हमला न हुआ तो लोगों ने समझा कि शायद पुलिसवालों को हमले की सूचना मिल गई होगी इसी से हमला रुक गया मालूम होता है। यह सोचकर सभी शिथिल हो गये।

किशन भी बहाना बनाकर मन्दिर के बगलवाले बूढ़े के पास जा बैठा और उसकी जवान बेटी पर डोरे डालने लगा। बाबा ने चरस का एक लम्बा दम मारा। कवि युवक जोर-जोर से जोश की एक लाइन—"सलामे ताज दारे जर्मनी···।" गा-गा कर सूने मुहल्ले में क्रान्ति की लहर उठाने लगा। समाजवादी युवक से यह सहा न गया और लैम्प खिड़की पर रखकर खाट खींचकर वह बैठ गया और जोर-जोर से मार्क्स के 'केपिटल' का एक अंश बिना समझे ही पढ़ने लगा।

आगे जाकर देखा कि डाक्टर के यहाँ कुछ बहस हो रही थी—किस बात पर,सो तो न समझ पाया। हाँ, बनिये के निचले व रईसी के कमरे में दारोगा जी अपने दो मित्रों के साथ बैठे शराब पी रहे थे और ऐसी जोर से बहस कर रहे थे मानो स्वराज्य के बाद ये दारोगा से कमिश्नर ही होनेवाले हैं।

और बनिया के मकान के ऊपर एक छोटा बच्चा रह-रह कर चीख उठता था।

मुझे लगा मानो चौबीस घण्टों के इस कर्फ्यू में अवश्य ही ये सभी अपनी-अपनी पसन्द के मनबहलाव का काम शुरू कर देंगे। कर्फ्यू का समय

ऐसा ही कटता है ।

बाबा का दम मारना भी मुझे याद आया। उन्हें रात भर जागने के लिये यही चाहिये । और वह किशन—अवश्य ही उस बूढ़े की लड़की को फँसा लेगा—उसकी रंगीन कमीज का रंग उस पर अवश्य ही चढ़ेगा। अभी नहीं तो चार रात्रि के बाद सही । जब बूढ़ा अपनी आँखों का गन्दा पानी पोंछते-पोंछते एक दिन मर जायेगा तो अवश्य ही किशन अपनी कलाबाजियों से नदी की बाढ़ की तरह बढ़ती जवानी वाली उस लड़की को लेकर भाग जायेगा और फिर किसी बड़े शहर के एक गन्दे मुहल्ले की किसी अँधेरी कोठरी में वह इसी प्रकार के दो-चार किशनों को जन्म देकर भारत के अभाग्य की लकीर और मोटी कर देगी।

मैंने सोचा, आज इन्हें समझाया भी नहीं जा सकता। आज तो हर बात को वे लोग हिन्दू मुसलमान का रूप देकर सोचते हैं। वहाँ राष्ट्रीयता का दीपक नहीं जल सकता। अंग्रेज़ों ने दो शताब्दी से अपनी जहरीली जड़ों का यह असर पैदा कर दिया है।

और अब रात को डेढ़ बजे थे। कोतवल के अर्दली 'मोती' ने आकर बताया कि हमले का अब डर नहीं—पुलिस ने रसूलपुर के सभी गुण्डों को गिरफ्तार कर लिया है।

मोती द्वारा प्राप्त इस शुभ-सन्देश से मुहल्ले भर में शान्ति छा गई। सभी जाकर सो रहे पर कुछ का तो काम चलता ही रहा।

मन्दिर के पड़ोसवाली वह छोकरी एकाएक कवि के कमरे से आने वाली सीढ़ी से जल्दी जल्दी उतर कर आगे चली और उसके पाँवों की आवाज सुनकर समाजवादी युवक ने अपने कमरे का पीछे वाला दरवाजा खोल दिया।

अपनी खिड़की पर से मैं खड़ा यह सब देख रहा था। लगा कि जोश की कविता—'सलामे ताज दारे जर्मनी ''की क्रान्ति इस देश में असर नहीं करेगी और मार्क्स का 'केपिटल'—वह तो बतलाता ही है कि अपनी वस्तु का उचित मूल्य जनता से न छिपाओ!

सो, उस छोकड़ी के लिए सभी एक से हैं—क्या कवि, क्या समाजवादी और क्या मन्दिर के बाबा। जो खरा दाम दे—खरीद ले।

और वह बूढ़ा भी तो कहे जा रहा था, "मेरी बुढ़ापे की यही रोटी है—मँहगी में इसने जान बचा ली!"

और वहाँ—डाक्टर साहब बनिया का लगातार दरवाजा पीटते जा रहे थे। बनिया शायद कहीं और था। उसकी बीवी को वे कहीं ले जाना चाहते थे पर वह ऐसा सो रही थी कि डाक्टर का चिल्लाना नहीं सुन रही थी।

और इसके बाद ही जब चार बजे और रात भर के कर्फ्यू का रंग देखने मैं खिड़की पर आ खड़ा हुआ तो देखा और सुना कि एक शोर हो रहा था—शायद उसी बनिया के ही यहाँ।

पता लगा कि जुआ पकड़ा गया है। सिपाहियों का एक दस्ता खड़ा था। कानाफूसी हो रही थी और भीतर! धमा-धम मानों कुटाई हो रही हो। तभी सुना, दारोगा की आवाज—"और मारो साले को,बनिया का बच्चा! जुआ खेलता है। मुहल्ला भर गन्दा कर रखा है। कमीना! सुअर !!"
और गाली के साथ ही उसके भारी बूटों की ठेस भी बनिया को लगी। वह चीख कर रह गया। छः जुआड़ी और पकड़े गये थे। मुहल्ले का इक्कावाला भी था। सभी को कोतवाली ले जाया गया।

बनिया का छोटा बच्चा दरवाजे पर खड़ा था और दूसरा भों-भों करके बुरी तरह रो रहा था। और बनिया की वह सुन्दर पत्नी— वह गायब थी! डाक्टर का भी पता नहीं था।

मुहल्ले के लोग कर्फ्यू में पकड़े जाने का डर छोड़ तमाशा देखने वहाँ आकर खड़े हो गए थे। कवि महाशय का कमरा अब भी बन्द था और बेचारा दीनानाथ! वह लैम्प की रोशनी तेज करके खिड़की पर खड़ा था। सहमी दृष्टि से सब देख रहा था।

धीरे-धीरे यह मेला भी छँट गया। बनिया के बच्चे रोकर चुप हो गये,पर उसकी पत्नी अब भी डाक्टर के साथ गायब थी। कवि के सूने कमरे की खिड़की खुल गई थी। दीनानाथ लैम्प बुझा कर शायद सो गया था। मन्दिर के बगल वाला बूढ़ा अपनी बेटी से गुप चुप कुछ बातें कर रहा था।

रात का हमला तो नहीं हुआ। कर्फ्यू उठने में घण्टे भर की और देर थी। रात खतम होने में एक घण्टे और है। और रात के अन्तिम प्रहर का अँधेरा कैसा भयानक होता है। सोचकर मैं काँप गया—इस अँधेरे में क्या कुछ और होना बाकी है!

जड़ में

"नहीं नहीं, हमें पुलिस की दरकार नहीं। बस, एक वालण्टियर दे दीजिए हमारे साथ।" यह कहते हुए पूरे आत्म-विश्वास के साथ हाजी खुदाबख्श ने शहर के कांग्रेसी नेता बाबू जगतनारायण लाल की ओर घूमकर देखा। उनका हृदय कांप रहा था। आज उनका सब कुछ नष्ट हो गया। जन्म भर की कमाई राख हो गई। आंखों के सामने कौन भला अपना घर जलता देख सकता था! पर हाजी साहब ने यह भी शांत रह कर देखा। उनकी आंखों के सामने ही उनकी बड़ी दूकान, लाखों के सामान से भरी दूकान, जलाकर राख कर दी गई!

इस दुर्घटना की आशंका तो आज सबेरे से ही थी। पंजाब के दंगों के सताए हुए सिक्ख जब से शहर में आए हैं, शहर का तापमान कुछ बढ़ गया है। बात बात में यहां के लोगों से और शरणार्थियों से झगड़ा हो जाया करता है। और कल ही की ताजी बात तो है। वह मेनरोड पर जो दूध दही की दूकान है, सुना है वही दूकानदार और एक पंजाबी में दूध को लेकर झगड़ा हो गया था। अवश्य ही दूध कुछ खराब रहा होगा। पंजाबी कहे जा रहा था कि यह खराब है, दूसरा दो नहीं तो पैसा वापस करो।

पर जब वह हलवाई मानता तब न! वह तो अपनी जिद पर ही अड़ा

रहा। कहता था—पहले क्यों नहीं देखा था ? खराब था तो क्यों तौलाया था ? बिका माल वापस नहीं होता।

और इसी को लेकर बात बहुत कड़वी होती गई। कुछ रास्ता चलने वाले भी मामले से परिचित होने के लिए जुटने लगे और बहस में गर्मी भी बढ़ती गई। कोई भी झुकने को तैयार नहीं था। न पंजाबी को सब्र हुआ कि जैसा भी दूध मिला है ले कर चलें और भविष्य में कभी इस हलवाई से कोई सरोकार न रखें, और न हलवाई को ही, जो दूध के पैसे न लौटाने का दृढ़ निश्चय करके जमा बैठा था। अगर वही सब्र करके पैसे लौटा देता तो कहीं कुछ न होता।

पर यहां तो होना ही कुछ और था। किसी बड़ी दुर्घटना की यह भूमिका जो थी।

उस पंजाबी की चिढ़ का भी कारण था उन्हें लाहौर का अपना जमाना याद आ रहा था। बड़ी कोठी, लाखों का कारबार, दो जवान वीर बेटे और एक बड़ी पछांह की भैंस, पक्का तेरह सेर दूध देनेवाली। अब सब नष्ट हो गया था। दंगे में सब लूट लिया गया। वह विशाल कोठी उसमें अवश्य ही अब कोई लुटेरा मौज कर रहा होगा। वह बड़ा कारबार! सब भस्म हो गया आग में। और दोनों जवान बेटे—! आह, दोनों को दंगाइयों से लड़कर मरते देखा—आंखों के सामने। और भैंस तो गई ही। यह सब वैभव छोड़ पंजाबी दर दर की ठोकरें खाते थे। दूसरों के भरोसे पेट चलाते थे। दूसरों की कृपा पर जीवित थे। ऐसी जिन्दगी भी क्या जिन्दगी है ?

चार आने के दूध के लिए यह हाय हाय! यह दरिद्रता!!

केवल गोद की एक पोती को लेकर वह जान बचा पाए सो उसी के लिए यह सब! मन के किसी कोने से एक अज्ञात आवाज में किसी ने कहा—'वह भी मर जाती सब के साथ!'

और लाला कांप गए। पंजाबी का खून शायद अन्य प्रान्त के रहने वालों के खून से ज़्यादा गर्म होता है। पंजाबी लाला गुस्से में कांप रहे थे।

और लाख गाली गलौज के बाद भी वह हलवाई जब टस से मस न हुआ तो लाला का गुस्सा सिर पर चढ़ आया।

आगे बढ़ कर हलवाई को उन्होंने धक्का दिया।

हलवाई अकड़ गया, "एजी, दूर से बात करो!"

"तो वापस करते हो मेरे पैसे?"

"पैसे क्यों वापस करूं?" और हलवाई की बात पूरी होते न होते लाला का हाथ लोटा सहित हलवाई के सिर पर पड़ा।

खून तो नहीं बहा पर लोटे का सारा दूध सिर पर गिरा और बह कर तोंद तक आ गया! चोट भी शायद काफी लगी थी। इसीसे चौंधिया कर हलवाई अंधे की तरह हाथ फैला कर पंजाबी लाला को पकड़ने की कोशिश करने लगा पर इसी बीच में पंजाबी ने तीन चार धौल और जमा दिए।

हलवाई के लिये इतना ही काफी था। अब तक हलवाई का नौकर भी दौड़ आया और तीन चार आदमियों ने भी भीड़ में आगे बढ़ कर पंजाबी को पकड़ लिया—शांत करने को। इसी बीच हलवाई को मौका मिला और पास पड़ा बड़ा कलछुला उठाकर उसने लाला पर दे मारा। सिर पर तो पगड़ी थी—चोट क्या लगती। पर हलवाई ने पूरा जोर लगा कर मारा था। कान के पीछे गरदन के पास पूरा जम कर हाथ पड़ा और तभी तो बल-बल खून बहने लगा।

मामला अधिक खराब कर देने को इतना ही काफी था। आस पास खड़े लोग जल्दी जल्दी ऐसा भागे मानो कोई छूत की बीमारी हो वहां! उनका भागना था कि फिर आफत आ गई। आगे के सिनेमा हाउस के सामने खड़े दर्जनों खोंचेवालों की समझ में कुछ न आया। पूछने पर केवल सुना कि झगड़ा हो गया है। बस झगड़ा का कारण और किसमें झगड़ा हुआ यह भी जानने की दरकार नहीं थी और वे लगे अपने अपने खोंचे उठाकर गलियों में भागने। धक्का खाकर सड़क पार करती हुई एक लड़की गिर पड़ी और उसके हाथ का शीशे का गिलास चूर चूर हो गया—वह रोने लगी। पीछे से आकर उसकी मां ने उसे हड़बड़ा कर उठाया और गाली देती हुई गली में भाग गई। और इक्के-रिक्शे तेज होकर भागने लगे और यह सब देखकर आगे की कपड़े की दूकानें फटाफट बन्द होने लगीं। एक दूसरे की देखा देखी ही सब बिना कुछ कारण मालूम किये भागते रहे। आधे घंटे में ही सब भाग गये। सारा बाजार सूना हो गया।

झगड़ा हुआ हलवाई और लाला में, हिन्दू और सिक्ख में। लोगों ने समझा हिन्दू और मुसलमानों में हुआ है। झगड़ा की खबर बढ़ा चढ़ा कर हर मुहल्ले में फैली, अलग अलग रूप में। कहीं कहा गया—एक हिन्दू मारा गया कहीं कहा गया—एक मुसलमान और कहीं कहा गया—एक सिक्ख !

और सिक्ख के मरने की खबर बल्कि 'गप्प'—जब गुरुद्वारे में पहुँची तो वहां खलबली मच गई। अब मुसलमानों की खैर नहीं। सिक्ख वीर को मारकर उन्होंने अच्छा नहीं किया। म्यान में पड़ी सिक्खों की तलवारें नाचने को व्यग्र हो उठीं।

अफवाहों का बाजार गर्म होता गया। सारे शहर की जिन्दगी में शांति हराम हो गयी।

दूसरे दिन सुबह भी कोई दूकान नहीं खुली। आज गुरुगोविन्द सिंह की गद्दी का उत्सव था। सिक्खों का जूलूस निकलेगा। कल शाम के झगड़े से सिक्ख बहुत बिगड़े हैं—जाने क्या हो जाय ?

जूलूस निकला। दस हजार से ज्यादा सिक्खों का जमघट। सभी के हाथों में नंगी तलवारें थीं। सूर्य की किरणों से तलवार की धार जब मिलती तो एक अनोखी चमक पैदा होती। खून की प्यासी चमक।

और जब—'वाह गुरू की फतह !' का नारा दस हजार सिक्खों के कण्ठों से निकलता तब आकाश तक गूंज उठता। तलवार की चमक तो दूनी हो जाती।

गुरुद्वारे से जब जूलूस चला तो सिख-सभा के बड़े सरदार ने ग्रन्थी के कान में कुछ फुसफुसा कर कहा और ग्रन्थी ने दस ग्यारह जवानों को लाकर भीड़ के बीच में खड़ा कर दिया और सभी इकट्ठे रहें—यह आदेश देखकर वह गुरुद्वारे के अन्दर चला गया।

और जुलूस आगे बढ़ा, जुलूस वालों में जितना ही जोश और उत्साह था, उतना ही अधिक आतंक दर्शकों के एक वर्ग में फैल रहा था।

'वाह गुरू की फतह !' और गुरु गोविन्द सिंह का नाम लेकर जब जुलूस

चौक बाजार से गुजरा तो एकाएक जुलूस के उस भाग में जहां ग्रन्थी ने कुछ चुने हुए जवानों को खड़ा किया था भीड़ में वहीं पर शोर हुआ। कारण का तो पता लगाने का अवसर था नहीं। सभी उसी ओर दौड़ पड़े। पुलिस वाले भी भीड़ की ओर बढ़े। सभी जवान जुलूस से बाहर निकल पड़े।

यह गोलमाल किसी की समझ में न आया। और देखते ही देखते अपनी दूकान के चौतरे पर खड़े दो मुसलमानों को दो तेज तलवारों ने घायल कर दिया। वे वहीं गिर पड़े। वार किधर से हुआ, किसने किया, कुछ पता न चला।

गड़बड़ी और बढ़ी। देखते ही देखते सामने की मुसलमानों की तीन दूकानों पर से तेज आग की लपटें उठने लगी। लोगों की समझ में कुछ कारण न आया और तीनों दूकान के बाद यह हाजी खुदाबख्श की बिसातखाने की बड़ी दूकान थी। वहां तो और ही दृश्य था। वास्तविक रूप में तो दंगा अब हुआ। हाजी जी की दूकान में घुसे बहुत से दंगाई चीजों को लूट रहे थे, बटोर रहे थे, बांध रहे थे। कुछ हाजी जी के लड़कों और नौकरों से उलझे हुए थे। मारपीट भी कर रहे थे!

और हाजी जी के आश्चर्य, निराशा और दुःख का ठिकाना न रहा जब लूटने वालों के बीच उन्होंने मुसलमान गुण्डों का भी एक गिरोह देखा। दो चार को पहचाना भी। काश ये इस समय उनकी सहायता करते! पर साम्प्रदायिक उपद्रवों में गुंडे अपना स्वार्थ सिद्ध करने लगते हैं। किसी को लूटते देखकर वह अपना भला कर लेते हैं। ऐसे मौकों पर वे हिंदू मुसलमान का भेद भूल जाते हैं। जनता में अपने को राष्ट्रीयतावादी कहने वाला वह हमीद नामक युवक जब घड़ी के फीतों का एक पूरा बन्डल लेकर चला और हाजी जी ने उसका हाथ पकड़ा तो वह किस प्रकार हाथ छुड़ा कर भागा था।

हाजी जी को अब किसी पर विश्वास नहीं। प्रत्यक्ष ही था—हमीद ऐसे लोग भी जब लूट से हाथ बंटा लेते हैं तो किस पर विश्वास किया जाय?

बेचारे हाजी जी? पागलों की तरह दौड़-दौड़कर सबके पांव पकड़ रहे थे,

रहम की दुआ मांग रहे थे। कभी कभी बाहर आकर सहायता के लिए चिल्लाते थे पर उस समय उनकी वहां कौन सुनता भला।

आधे घंटे की भाग दौड़ और दंगे में, बगल वाली तीनों दूकानें राख हो चुकी थीं और अब हाजी जी की दूकान भसम हो रही थी। अब तक पुलिस का दल आ गया था। दंगाई जुलूस के साथ आगे बढ़ गए थे। आग बुझाने का इंजन लगातार पानी की बौछार तेज करता जा रहा था। पर आग काबू में नहीं आ रही थी।

हाजी जी को कुछ सूझ नहीं रहा था। उन्हें यह सजा क्यों दी गई? वे सोच रहे थे-सदा ही तो उन्होंने कांग्रेस का साथ दिया था। सन् १६२१-३१ का जमाना अब पुनः उन्हें याद आ रहा था। और पिछले वर्ष १६४६ के सार्वजनिक चुनाव को तो वे भूल ही नहीं सकते। प्रांतीय सरकार की एसेम्बली के लिए चुनाव हो रहा था। कांग्रेस के खिलाफ, मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा दोनों संस्थाएं गंदा प्रचार कर रही थीं। उन दिनों यहां के मुसलमानों का कुछ पूछना ही न था। वे तो कहते थे—कांग्रेस हिन्दूओं की, काफिरों की, संस्था है।

और शहर के सारे मुसलमानों के विरोध में हाजी साहब उन दिनों भी राष्ट्रीयता का राग अलापे ही जा रहे थे। कुछ मुसलमान तो कहते थे कि इस बूढ़े हाजी के कारण जो बल कांग्रेस को मिल रहा है उसके लिए तो हाजी को मार डालना ही उचित है। केवल एक झिझक थी कि हाजी, हज-ए-शरीफ हो आया था। उसे मारना धर्म के प्रतिकूल तो......!

पर हाजी जी को अपने ध्येय और विश्वास के लिए जान देने में भी हिचक नहीं थी। कांग्रेस पर उन्हें अडिग विश्वास था। मौका आवेगा तो वे कांग्रेस के लिए अपनी जान और माल सभी कुछ कुरबान करने को तैयार रहेंगे।

और उस दिन का दृश्य तो लोग भूल ही नहीं सकते जब चुनाव के लिए मुस्लिम लीग की एक लारी पर सवार मुसलमान युवक गंदे नारे लगा रहे थे—"ले के रहेंगे पाकिस्तान! बंट के रहेगा हिन्दुस्तान!"

हाजी जी ने रोका—"क्यों सचमुच तुम लोग पागल हुए हो ? हिन्दुस्तान को बांटोगे। जहां तुम पैदा हुए हो और जहाँ तुम्हारे पुरखों की पाक कब्रें बनी हैं। भला उस धरती को बांटेगे ?"

पर चुनाव के मदमाते लोगों पर इसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। कुछ लड़कों ने हाजी जी को चिढ़ाने के लिए फिर नारा लगाया।

"हिन्दुस्तान–बँट के रहेगा—

भारत माता–कट के रहेगी।"

—भारत माता के कटने की बात सुनकर हाजी जी की आंखों में खून उतर आया—"खामोश, जो अब जुबान खोली.......''और डांट कर हाजी जी ने एक युवक की बांह पकड़र झकझोर दी फिर क्या था। उस युवक समाज ने हाज़ी जी की अच्छी खबर ली—लाठी और ईंट से। और तब छोड़ा जब वे बेहोश होकर गिर पड़े।

हाजी जी को मुसलमानों ने राष्ट्रीयतावादी होने की यह सजा दी थी। आज हिन्दुओं ने मुसलमान होने की सजा दी है।

पर इसके लिए वे किसी को क्यों दोष दें हैवानियात की तो आज चारों ओर हुकूमत थी।

हाजी जी के लड़के को आज बुरी तरह चोट आई थी। उसे पुलिस की निगरानी में अस्पताल भेजा गया। इधर दूकान में बहुत से लोग इकट्ठे हो गए थे। पुलिस भीड़ को हटा रही थी। तभी बाबू जगतनारायण लाल भीड़ और को चीर कर आगे आए। बगल की दूकान की आग बुझाने में उनके बाल, कपड़े तो तर थे ही उनका दायाँ हाथ भी जल गया था। उसकी जलन से कराहते हुए वे आगे बढ़े और खड़ी भीड़ में ललकारा, 'सब कोई चुपचाप क्यों खड़े हो ? यह हाजी की दूकान नहीं जल रही हमारा तुम्हारा घर भी जल रहा है।"

सुनकर कुछ लोग आगे बढ़े और आग बुझाने में जुट गए। लेकिन कुछ तो अभी भी बिल्कुल जंगलीपन की बातें कर ही रहे थे।

एक ने कहा, "अरे भाई बड़ा नुक़सान हुआ।"

पीछे से किसी ने उत्तर दिया, "बेवकूफ़ हुए हो ? हाजी बुद्धू नहीं है, कल ही सब माल हटा दिया था।"

और हाजी जी ने ज्यों ही जगत बाबू को देखा तो बालकों की तरह उनसे लिपट कर रोने लगे। हाजी जी और जगतबाबू सन् २१ और ३१ में साथ ही साथ जेलखाने गए थे।

जब आग बुझी तो दूकान के भीतर जाकर देखने से पता लगा कि एक पैसे का भी माल नहीं बचा है। सब राख, सब नष्ट।

तभी जगत बाबू को जैसे कुछ याद आया। 'वे बोले, "अभी हमने यहां हमीद मियां को भी देखा था। कहां है वह ?" हमीद की रक्षा के लिए जगत बाबू ने चिन्ता प्रकट की।

हमीद के नाम से ही हाजी जी चौंक गये। गरदन झटक कर बोले, "जगत बाबू आज से आप हमीद का नाम न लीजिएगा ऐसे नीचों पर यकीन करना गलती है।"

"क्यों, क्या हुआ, हाजीजी ?" जगत बाबू ने पूछा। पर हाजी ने उनको कोई उत्तर नहीं दिया। उनका दिल रो रहा था उनके नष्ट होने में एक राष्ट्रीयतावादी मुसलमान का भी हाथ था। भला यह शर्मनाक कहानी वे किस मुँह से कहते और कैसे जगत बाबू को यह विश्वास होता कि हाजी जी और हमीद मियाँ दोनों मुसलमान होते हुए भी, दोनों में इतना अंतर है जितना सफेद और कालेमें।

हाजी जी की आँखों से दो बूंद आंसू ढुलके और घनी दाढ़ी में फंस कर रह गए।

और लुटे हुए हाजी जी जब वहाँ से चले तो जगत बाबू ने कहा, "हाजी जी आप अकेले मत जाइए। दो चार सिपाही साथ ले लीजिए, ठहरिये।"

रुक कर हाजी जी घूम पड़े। दुखी बूढ़े चेहरे पर एक झूठी हंसी छा गई। मानो वे दिल को बहुत समझा कर कह रहे थे, "नहीं नहीं, हमें पुलिस की दरकार नहीं नहीं है बस। एक वालन्टियर दे दीजिए हमारे साथ। एक कांग्रेस के रहते हमारा कुछ नहीं बिगड़ सकता।" कहकर पास खड़े एक

कांग्रेसी युवक की बांह पकड़कर वे गिरते-गिरते बचे ।

हाजी जी को अब पुलिस पर विश्वास नहीं था । कांग्रेस का एक स्वयंसेवक ही उनका सबसे बड़ा रक्षक हो सकता था ।

हाजी का विश्वास खंडित होता देखकर जगत बाबू हिल गए । काश, वे किसी प्रकार भी हाजी जी के इस विश्वास की रक्षा कर पाते !

काश, सभी को यही विश्वास होता । काश, हमीद जैसे लोग भी हाजी जी बन पाते !

घड़ी में चार बजे और एक क्षण के लिए विनय का हाथ रुक गया। घण्टे बाद पांच बजेंगे फिर वह सीधा शरणार्थी-शिविर चला जायगा।

विनय क्लर्की तो करता है पर केवल काम के नाते ही वह क्लर्क है। क्योंकि अन्य क्लर्कों की स्थिति से वह जरा अपने को अलग पाता है। पड़ोस की मेज पर बैठे बूढ़े सिनहा जब बेबसी का स्वरूप बन, आंखों में करुणा ला कहते हैं कि—क्या होता है इन नब्बे रुपयों में, हम सात प्राणी हैं—हम, हमारी बीबी, तीन लड़कियां, दो लड़के। खर्च भी तो नहीं चल पाता। फिर खाने-पाते के खर्च को ही कम कर के तो बीस रुपये महीने डाक्टर की जेब में डालने होते है ताकि सभी जीते रहें। ऊपर से यह हिन्दू जाति भी क्या है, कि हर महीने ही तो एक आध त्योहार भी होते ही रहते हैं। कल ही धनतेरस है। कोई बर्तन अवश्य खरीदना है, यह शकुन है। फिर एक दिन बाद दिवाली है। सेर भर मिठाई भी तीन रुपये से कम में नहीं मिलती।

सिनहा की बात तो सच है। विनय उत्सुकता से सुन लेता है और शीघ्र ही सिर को एक झटका दे कर भुला भी देता है। मन ही मन सोच कर खुश होने लगता है,—अच्छा ही किया जो उसने शादी नहीं की।

नहीं तो सिनहा की तरह वह—उसकी बीबी—तीन लड़की, दो बच्चे। व्यंग-युक्त मुस्कान की एक रेखा विनय के होठों पर फैल जाती।

नब्बे रुपये दोनों को ही मिलते हैं। पर दोनों पाने वालों में—सिनहा और विनय में, बड़ा अन्तर है।

घड़ी में चार का बजना दोनों ने ही देखा—सिनहा ने और विनय ने भी। दोनों पर ही प्रभाव अलग-अलग पड़ा। एक घंटे बाद पांच बजेगा—सिनहा कांप उठा। वह पहले घर जा कर तुरन्त लौट आवेगा। आज ही राशन का अनाज लाना है, डाक्टर के यहाँ दो घन्टे हाजिरी देनी है, मुन्नी और छोटा बच्चा, दोनों बीमार हैं। फिर बीवी की आंख में भी लोशन लगवाना है। इतने सारे काम। नौ बजे के पूर्व उसे छुट्टी न मिलेगी।

और विनय भी सोच रहा था—एक घंटे के बाद पांच बजेंगे। सवा पांच बजे ही आज पंजाब के शरणार्थियों की गाड़ी आवेगी। उन्हें शहर के बाहर ठहराने का प्रबन्ध है। सभी को स्टेशन से मोटर लारी और ट्रकों पर बैठा कर शरणार्थी शिविर ले जाया जाएगा। वहां उनको अधिक से अधिक आराम पहुंचाने की कोशिश की जाती है। वहीं रोज विनय अपना तीन घंटे का समय शरणार्थियों की सेवा में बिताता है, आफिस के बाद—पांच से आठ बजे तक।

जब पांच बजा तो दोनों ही उठे—सिनहा और विनय। दोनों बात करते हुए बाहर आए और जब काफी दूर निकल गए तो सिनहा को जैसे कुछ आश्चर्य लगा। पूछा, "क्यों विनय, आज इधर कहां चले चल रहे हो।"

"अरे आप को नहीं मालूम? आज अमृतसर से शरणार्थियों की स्पेशल आने वाली है। स्टेशन चल रहा हूँ। चौक तक तो आप के साथ चलूंगा ही फिर वहां से कोई सवारी कर लूँगा।"

"अच्छा तो ठीक है। पर क्या तुम अपना सब समय आजकल इन्हीं शरणार्थियों के संग ही व्यतीत करते हो?"

"हां, मैं जी जान से इनकी सहायता करना चाहता हूँ। एक दिन कैम्प में आकर देखो तो पता लगेगा। ये भागे हुए लोग सचमुच बहुत दुखी हैं। इनकी सहायता करना हमारा आज का पहला काम होना चाहिए?"

सिनहा क्षण भर चुप रहे। कुछ सोचा फिर बड़ी लम्बी सी-सांस खींची।

विनय ने आश्चर्य में भर कर प्रश्न की दृष्टि से ताका, "क्या हुआ सिनहा बाबू ?"

"कुछ नहीं विनय, सोच रहा था कि यह और इस प्रकार की सहायता तुम्हीं जैसे लोगों के लिए है।"

"ऐसा क्यों; आप क्यों नहीं ?"

इसलिए कि हम तो खुद ही अपने दुःखों से छुट्टी नहीं पाते। दूसरों के दुःख में सहायता क्या करें ? मेरी एक लड़की और एक लड़का बीमार हैं उनकी दवा लांऊ या शरणार्थियों में जो बीमार हैं उनके दवा का प्रबन्ध करूँ।"

"इसीलिए तो मेरा मत है कि यदि शादी न की जाय। तो इन सब झंझटों से दूर रहा जा सकता है।"

"और यही बुजदिली तो हमें पसन्द नहीं।"

"बुजदिली ?" विनय ने प्रश्न किया उसे लगा मानो किसी ने गाली दी हो उसे।

"हां हां, बुजदिली ! भला जीवन की वास्तविकता से इतना दूर क्यों भागना चाहते हो ? जीवन के अखाड़े में लड़ो और बहादुरों की तरह जीतो भाग कर हंसना अच्छा नहीं कि तुम नहीं हारे। जब लड़ोगे ही नहीं तो हार-जीत क्या हो सकती है ?" सिनहा ने एक सांस में ही यह कहा। ऐसा लगा कि सिनहा का पुरुषत्व जो अभी तक क्लर्क बना था, अब विद्रोह करके सामने आ खड़ा हुआ है, अपने प्रत्यक्ष रूप में।

सिनहा के इस भाषण से विनय दब सा गया। सहम कर धीरे-धीरे बोला, "वास्तविकता की बात नहीं सिनहा बाबू। मैं इस प्रकार की वास्तविकता में जूझ कर अपने को समाप्त नहीं करना चाहता। मैं लड़ूँगा और दूसरे लड़ने वालों की पूर्ण सहायता करूंगा।"

"शाबाश !" सिनहा ने इस ढंग से कहा कि विनय की सारी गम्भीरता उड़ गई और वह हंस पड़ा।

समूची बहस का महत्व समाप्त हो गया। पर सिनहा की बताई जीवन की वास्तविकता के चारों ओर उसकी विचारधारा अब भी घूम रही थी।

तभी चौक आ गया। घंटाघर की घड़ी में ठीक सवा पांच बजे थे। विनय का दिमाग सब ओर से खिंच कर सवा पांच और शरणार्थियों की स्पेशल

ट्रेन पर जा लगा।

जब स्टेशन पहुंचा तो अन्य साथियों से पता लगा कि गाड़ी आधे घंटे लेट है अतः पौने छः बजे आ रही है। सुन कर विनय ने संतोष की सांस खींची।

प्लेटफार्म पर काफी भीड़ थी। दीवाली की छुट्टी के कारण यात्री भी कुछ अधिक हो गए थे। कुछ स्वयंसेवक थे और कुछ दर्शनार्थी। प्लेटफार्म के इस छोर से उस छोर तक एक ही चर्चा थी, एक ही बात थी, वह थी पंजाब के दंगों की, वहां के शरणार्थियों की।

गाड़ी के आते ही स्टेशन भर में एक शोर मच गया। गाड़ी खड़ी हुई और शरणार्थी उतरने लगे। पुरुष, स्त्रियाँ, बूढ़े, बच्चे। विनय गाड़ी के हर डिब्बे के सामने आता जाता और उसकी समझ में न आता था कि क्या करे। शरणार्थियों में कुछ के पास सामान अधिक था, कुछ के पास बिलकुल ही सामान नहीं।

देखते-देखते बहुत से लोग उत्तर आये। एक डिब्बे में कुछ लोग बाकी थे। उसी के दरवाजे का पीतल का डंडा पकड़ कर विनय खड़ा था और प्रत्येक उतरने वाले को गौर से देख रहा था। धीरे-धीरे वह डिब्बा भी खाली हो गया। एक बूढ़ा सिक्ख उतर रहा था, और उसके पीछे एक युवती थी जो बहुत धीरे आकर दरवाजे से लग कर खड़ी हो गई थी। विनय ने प्रश्न में डूबी दृष्टि से देखा—अवश्य ही इस स्त्री को कोई कष्ट था। तभी बूढ़े सिक्ख ने विनय को टोका, "हैं जी, आप 'व्हेलेन्टियर' हैं?"

"जी हां।" हड़बड़ा कर विनय ने उत्तर दिता।

"तो आइए जी, जरा सहायता कीजिए। इधर आइए,इधर!"

सुनकर विनय उस बूढ़े सिक्ख के पास जा खड़ा हुआ। बूढ़े ने जब उस स्त्री को सहारा दिया तो विनय को देख कर समझते देर न लगी कि वह स्त्री गर्भवती थी।

उस बूढ़े सिक्ख और विनय की मदद से वह उतरी। विनय को बड़ी दया आयी। वह स्त्री और बूढ़ा सिक्ख किसी बड़े धनी परिवार के मालूम होते थे। उस स्त्री के कपड़े यद्यपि बहुत गंदे और कहीं-कहीं पर फट गए

थे। फिर भी यह तो पता लग ही जाता था कि वे कपड़े बड़े कभी कीमती रहे होंगे। चेहरा उसका गोल और लम्बी पतली नाक के कारण बहुत सुन्दर था। रंग गुलाबी रहा होगा, पर अब तो चेहरे पर कुछ धुँधले दाग थे—जैसे हफ्तों से मुंह न धोया गया हो। रुखा रुखा मुंह इतना उदास हो गया था कि यदि गौर से न देखा जाये तो उस मुख को सुन्दर कहना कठिन ही था।

विनय को उनके विषय में सोच कर बड़ी करुणा उपजी। जब उन लोगों को लारी में बैठा चुका तो विनय ने उस बूढ़े सरदार से पूछा, "आप को बहुत तकलीफ उठानी पड़ेगी।"

"हाँ जी, पर कर ही क्या सकते हैं?

"यदि जरूरत हो तो किसी अस्पताल में प्रबन्ध किया जाय।"

"हां जी.........।" सरदार ने रुक कर कुछ सोचा फिर कहा, "पर नहीं, अभी हम सब के साथ ही कैम्प जाएँगे। आपने बड़ी किरपा की हम लोगों के ऊपर। क्या कहें समय का फेर है नहीं तो ...." कहते-कहते बूढ़े सिक्ख की आवाज भारी सी हो गई और वह आधी बात पर ही चुप हो गया।

सुनकर विनय का मन अपने आप में कचोटने लगा। जल्दी-जल्दी उसने कहा, "जी नहीं, जी नहीं—ऐसा न कहें। हम लोग तो आप की सेवा के लिए तो हैं ही।"

"अच्छा तो कब भेंट होगी?" सरदार ने पूछा। शरणार्थियों की लारी मोटर आगे बढ़ने लगी थी।

"हां, हां कैम्प में।" मोटर काफी आगे बढ़ गई थी—विनय ने चिल्ला कर कहा।

और दूसरी मोटर पर सवार होकर विनय भी शरणार्थी शिविर की ओर चला गया। रास्ते भर वह रह रह कर उन्हीं शरणार्थियों के बारे में सोच रहा था और विशेष रूप से उस सरदार और गर्भवती स्त्री के बारे में। पता नहीं क्यों विनय को इनके लिए दिलचस्पी हो गई थी।

रास्ते में एक जगह मोटर रुक गई। शरणार्थियों की मोटर है इसलिए

यह सुन कर बड़ी भीड़ चारों ओर इकट्ठी हो गई। विनय उतर आया। जेब में हाथ डाला तो पता लगा कि सिगरेट चुक गई है अतः पान की दुकान की ओर बढ़ गया। और वहां से एक पैकेट लेकर ज्योंही उसने एक सिगरेट जलाई कि देखा अपने आफिस के सिनहा बाबू तेजी से बढ़े जा रहे हैं। विनय ने पुकार लिया, "अरे, सिनहा बाबू।"

तेजी से जाते हुए सिनहा के पावों में मानो किसी ने ब्रेक लगा दिया—वे रुके और घूमे विनय को पहचाना। पास आ गए।

छूटते ही विनय ने कहा, "इतनी जल्दी-जल्दी कहां सिनहा बाबू ?"

प्रश्न के उत्तर के लिए मानो सिनहा पहले से तैयार थे। झट कह उठे—हाथ में दवा की लाल शीशी बढ़ाते हुए, "छोटे बच्चे की बहुत बुरी हालत है, डाक्टर कहता है निमोनिया हो गया है।"

"अच्छा।" आश्चर्य था विनय को।

फिर क्षण भर दोनों चुप रहे और सिनहा चलने को हुए। विनय ने कहा, "मेरे योग्य कुछ हो तो कहो।"

सिनहा के दुःखी हृदय में एक क्षण के लिए शांति मिली। हंस कर व्यंग से कहा, "अरे विनय, अपने लिए मैं काफी हूं। तुम जाकर शरणार्थियों की सेवा करो, जिनका यहां कोई नहीं।" और उत्तर की प्रतीक्षा किए बगैर ही सिनहा अपने रास्ते बढ़ चले।

विनय न समझ सका कि यह व्यंग था या आदेश! मुंह फाड़े दूर तक सिनहा को देखता रहा। ध्यानमग्न था, तभी मोटर ड्राइवर ने हार्न बजाया और दौड़ कर विनय मोटर की ओर भागा।

कैम्प में जा कर देखा सभी शरणार्थियों ने अपने-अपने लिए थोड़ा थोड़ा स्थान घेर कर सामान फैला लिया था। चावल और रोटियां जो पहले से तैयार थीं उनमें बाँटी जा चुकीं थीं। सब को देखते-देखते विनय उन्हीं दोनों—सरदार और स्त्री, के पास जा पहुँचा। एक पत्तल में कुछ रोटियां और तरकारी रखी थीं और वह स्त्री एक चादर सिर से पांव तक ओढ़े बाईं करवट लेटी थी। और वह बूढ़ा अलग, अपने साथ लाई हुई थाली में

खा रहा था। विनय के पहुँचते ही उस बूढ़े सिक्ख ने खाना रोक कर स्वागत किया,

"आ गए जनाब आप ?"

विनय को बूढ़े की इस दशा पर दया आई। दुःख में इतना सुखी बनने की कोशिश करके भी वह असफल ही रहा। बूढ़े को कोई उत्तर न दे सका विनय। बूढ़े की बात सुन कर मुंह ढांप कर लेटी स्त्री ने एक बार मुंह पर से चादर हटा कर विनय को देखा, फिर चादर तान ली।

कुछ मिनट विनय खड़ा रहा। तब तक बूढ़े ने खाना समाप्त कर लिया, फिर विनय को उसने अपने पास बैठा लिया। विनय ने सोचा बात का कोई क्रम चलना ही चाहिए अतः उसी ने बात चलाई।

"क्यों सरदार जी ! रास्ते में आप को कोई ज्यादा तकलीफ तो नहीं हुई ?"

"तकलीफ की मत पूछो जी, हम लोगों पर क्या बीती है इसकी तो आप लोग केवल कल्पना ही कर सकते हैं।"

और फिर बड़े करुण भाव में बूढ़े सिक्ख ने पंजाब से यहां तक की सभी घटनाएं विस्तारपूर्वक बताईं।

विनय सुनता रहा और लम्बी-ठंडी सासें भरता रहा। एक-एक दृश्य की कल्पना करके उसका शरीर कांप जाता था।

अन्त में रात गए वह उठा और दूसरे दिन फिर आने को कह वह घर चला आया। रात भर वह सोचता रहा — उस स्त्री के रंग ढंग ठीक नहीं हैं। कहीं रात को बच्चा हुआ या तकलीफ ही बढ़ी तो क्या होगा ? उसकी सहायता वहां कौन करेगा।

दूसरे दिन जब वह आफिस गया जो सिनहा नहीं आए। दोपहर तक आसरा देख कर विनय ने चपरासी को सिंनहा के घर भेजा तो पता लगा कि उनके बच्चे की हालत ठीक नहीं है। पसलियां चल रही है। उसने एक दिन की छुट्टी की अर्जी भेजी है। एक दिन की छुट्टी–फिर दो दिन— कल परसों तो दीपावली की छुट्टी है ही।

एक आशंका से विनय कांप उठा—झट उसका ध्यान शरणार्थी शिविर

तक जा पहुँचा। कहीं उस स्त्री को भी लड़का हो गया हो तो ?

सिनहा के प्रति,भी विनय को बड़ी दया उभड़ती है पर उस शरणार्थी बूढ़े और उसकी पुत्रबधू, उस स्त्री के कष्ट की बात सोच कर वह हर बार चिन्तित हो उठता है। उसने सोचा आज रात को सिनहा के यहां चलेंगे।

विनय को लगा कि रोज के अलावा उस दिन पांच कुछ देरी से बजा। क्योंकि ज्यों-ज्यों वह जल्दी करता था कि पांच बजे और विनय आफिस से छुट्टी पाकर शरणार्थी कैम्प जाए, त्यों-त्यों पांच की दूरी बढ़ती जाती थी।

और जब चींटी की चाल से भी धीरे-धीरे बढ़ कर घड़ी की सूई ने पांच बजाया तो विनय एक दम से उठ खड़ा हुआ। एक रिक्शा करके सीधा शरणार्थी शिविर पहुँचा। फिर वहाँ उसने जो दृश्य देखा उसकी उसे दोपहर को आफिस में ही कुछ शंका हुई थी।

चारों ओर की भीड़ को चीर कर वह सामने जा खड़ा हुआ। वह स्त्री एक गरम चादर से अपने को छिपाये बैठी थी। आँसुओं से उसका सारा चेहरा धुल कर बहुत कुछ साफ हो गया था—एक नवीन प्रकार का रंग चेहरे पर चढ़ गया था। विनय ने देखा और उसके हृदय में करुणा फिर जाग उठी। उस स्त्री से लग कर दो और पंजाबी स्त्रियाँ बैठी थीं, जो कभी रोती थीं, कभी सांत्वना के शब्द कह कर उसे धीरज देती थीं।

बूढ़े सिक्ख ने विनय को बताया कि किस प्रकार सबेरे चार के लगभग पौ फटने के साथ ही यह लड़का पैदा हुआ—और दोपहर से पसलियां चल रही हैं।

बूढ़े की गोद में लेटे एक नवजात शिशु को विनय ने देखा जो बुरी तरह उल्टी सांसे ले रहा था!

"रात को ठण्ड लगी है क्या ?" विनय ने पूछा।

विनय के प्रश्न पर बूढ़े और उस शिशु की माँ दोनों की आंखें उस पर आ टिकीं मानो कह रही हों—ठण्ड, ठण्ड, अभाग्य था! नही तो क्या इतनी बड़ी बड़ी कोठियां छोड़ कर यह खुले मैदान में—कैम्प में इसे पैदा होना था। बुरे दिन में ठन्ड-गर्म में कुछ भेद नहीं रहता।

उनकी आंखों का भाव पढ़ कर विनय चुप हो गया। मां ने आंखें

झुका लीं और बूढ़े ने कहा, "क्या कहें—बुरे दिन आए हैं जी, नहीं तो……।"

बूढ़े की बात पूरी न हो पाई थी कि वह स्त्री रोने लगी और साथ की दोनों औरतों ने भी उसका साथ दिया। करुण क्रन्दन सारे वातावरण में व्याप्त हो गया।

बूढ़े ने कहा, "रोती न रहो। भीड़ इकट्ठी होगी। तकलीफ सहने से कटती है—रोने से नहीं।"

और जो होना था वही हुआ। उल्टी सांस लेते ही लेते बच्चे ने दम तोड़ दिया।

मां अचेत हो गई और खुले आसमान के नीचे शाम के धुंधलके के बीच वह बूढ़ा सिक्ख अपने मृतक पौत्र को गोद में ले कर अपना निचला ओंठ चबा रहा था। उसका दिल निकला पड़ता था! वह सोच रहा था अपने वैभव के दिन और अब दूसरों के सहारे, दूसरे के शहर में शरणार्थी बनाने वाला आज का दिन। क्या उसके घर पर भी उसका बच्चा इसी तरह असहाय होकर दम तोड़ता। महीने भर पहले उसने इस बच्चे के जन्म के उत्सव की जाने क्या-क्या कल्पना की थी—वही बच्चा—एक दिन का बच्चा, मुंह फाड़े मौत से हारा पड़ा था।

जब उसकी मां को चेतना हुई तो अपने मृत बच्चे के लिए वह छाती पीटने लगी। वह रो रही थी और वातावरण उदास हुआ जा रहा था, उसकी किस्मत में यही बदा था। दंगे से पति मारा गया, आज उसकी निशानी भी छिन गई। उसने अपनी जान केवल बच्चे के लिए बचाई थी, वर्ना मरने के कई साधन थे। वह भी मर जाती यदि यह जानती।

वह घण्टों रोती रही—और वह बूढ़ा और विनय उसे समझाते रहे। धीरे-धीरे आसपास खड़े लोग भी चले गए। चारों ओर से सिमट कर अंधेरा मानो वहीं आकर जुट गया था। बड़ी सान्त्वना देने के बाद मां चुप हुई और मृत बच्चे को ले जा कर गाड़ आने की बात तय पाई।

विनय ने कैम्प के दफ़्तर से एक फावड़ा और लालटेन का प्रबन्ध किया।

बूढ़े सिक्ख ने जब बच्चे को ले चलने को उठाया तो मां फिर एक बार

चीत्कार कर उठी। बूढ़े ने समझाया, "रोने से अब क्या होता है। जाने वाला तो चला ही गया। और अच्छा ही हुआ हम लोगों के साथ उसे भी जाने क्या दुःख सहने पड़ते।"

और रोती मां को चुप हो जाने के लिए छोड़ कर विनय के साथ बच्चे को गोद में ले बूढ़ा सिक्ख बाहर आया। विनय के हाथ में लालटेन और कन्धे पर फावड़ा था। वह देख रहा था—बृद्ध सिक्ख की गोद में मृत बच्चा मुंह फैलाये पड़ा था। वे अन्धकार के बीच दूर बढ़े जा रहे थे। और युग-युग से बच्चे को दूध पिलाने की साध को कलेजे में छिपाये वह मां कैम्प में पड़ी थी—उसका बचा आकर, आशा दे कर, फिर सदा के लिए बिछुड़ गया था।

गांव से दूर वे आगे बढ़ गए। एक छोटे पोखरे के किनारे अपने साफे में लपेट कर, सिक्ख ने बच्चे को लिटा दिया और दोनों गढ़ा खोदने लगे। अब तक के रुके सिक्ख के आंसू भी अब बह चले। वह मृत बचा भी उन्हें रुलाने ही आया था, अपनी एक मां से छुट्टी मांग कर, इस मातृभूमि के कलेजे में सदा के लिए छुप जाने को।

गढ़ा खोद कर बच्चे को लिटा दिया गया और रोकर, उस पर मनों मिट्टी लाद दी गई। दब जाने की कल्पना ही अब नहीं उठ रही थी। बूढ़े सिख की आँखे बह चलीं—ओंठ फड़के। वह एक शब्द भी न बोला।

दोनों आगे बढ़े। कुछ दूर आकर बूढ़ा सिक्ख एकदम रुक गया और लौट कर एक बार फिर उस ढेर को ताका जिसके नीचे उसका अपना एक प्राणी दबाया गया था।

दोनों ही चल रहे थे। सिक्ख ने दोनों हाथ पीछे पीठ पर बांध लिए थे। और विनय कंधे पर फावड़ा रक्खे, हाथ में धुंधले प्रकाश की लालटेन लिए धीरे-धीरे बढ़ रहा था। वह जैसा आया था वैसा ही जा रहा था—सिक्ख आया था तो उसके हाथ में उसके एक अपने प्राणी का शरीर था—जिसे वह पीछे छोड़ आया था।

तभी विनय को सिनहा की याद आई। जाने उसका क्या हाल हो, उसका बच्चा भी तो बीमार है—सकी भी पसलियां चल रही थीं। उसने

सिनहा के दम तोड़ते बच्चे की कल्पना की।

शहर की ओर दृष्टि उठाई। कल दीपावली का त्योहार है आज धन-तेरस है। शहर में उसी का प्रकाश है। जो शहर के ऊपर उठ कर चारों ओर के व्यथित लोगों को अपने वैभव की बात बता रहा था।

विनय ने पाया अपने दोनों ओर दो प्रकाश। दाहिने हाथ में धुंधली लालटेन, दाहिनी ओर उसी का प्रकाश, जिसमें एक दिन की आयु का बालक दफनाया गया है, और दूसरी ओर शहर में धनतेरस का प्रकाश, जिसके बीच एक अंधेरे घर में सिनहा का छोटा बच्चा उल्टी साँसे ले रहा होगा।

नंदलाला खेलैं होरी....!

बिहारी को 'मेट' बने अभी दो ही दिन हुए थे। अपनी तरक्की पर वह फूल नहीं समाता था। भला किस कैदी का इतना जल्दी सितारा चमका होगा! जेल में आए अभी केवल छः साल ही तो हुए हैं और वह मेट बन गया। उसकी तकदीर सिकन्दर मालूम होती है। केवल सवा दो साल के बाद ही उसे 'पहरा' का काम मिल गया था, काली टोपी मिल गयी थी, और आज छः साल पूरा होते न होते उसे मेट की जगह मिल गई। नीली टोपी मिल गई और कमर में पेटी भी। ऊपर से तनख्वाह का हर महीने चार आना पैसा जो फाटक पर जमा होता जायगा सो अलग। अभी छूटने में आठ साल है। हो सकता है, डेढ़ साल की 'कटती' मिल जाय, फिर भी साढ़े छः साल बाकी हैं। साढ़े छः साल के मतलब साढ़े उन्नीस रुपये। जेल में रह कर भी आमदनी इसी को कहते हैं। मेट बनना कोई खेल नहीं। पूरी-पूरी चौदहों साल की सजा खतम हो जाती है पर यह अवसर सबको नहीं मिलता। यह तो उसका भाग्य और जेलर साहब की कृपा।

बिहारी सोच रहा था और अपने आपकी, मन ही मन तारीफ कर रहा था। अवश्य ही उसमें कुछ खास बात है तभी तो जेलर साहब इतना मानते हैं। परन्तु आज शाम को उन्होंने जो कठिन काम बिहारी के कंधों पर डाल

दिया है उससे वह चिन्तित है। जेलर साहब ने कहा था, "बिहारी, तुम्हारी तारीफ तो तब जब कि इस मरतबा जेल की होली बन्द करा दो। अगर तुम इस काम में सच्चे उतरे तो तुम्हारे टिकट पैर साहब से तारीफ लिखा दूंगा और कटती अधिक मिल जायगी !"

क्रूर पंजाबी जेलर अर्जुन सिंह के ये शब्द बिहारी के कानों में फिर नाचने लगे ! उससे जैसे भी होगा, वह यह होली बन्द कराकर ही रहेगा। तभी एक झटके से उसने अपनी गरदन झिझकोर दी, मानो उसने समस्या की कोई निश्चित योजना बना लिया और उठ खड़ा हुआ।

बिहारी जानता था कि कैदियों के दो ही तो लीडर थे, गफ़्फार और मेवालाल। दोनों की बड़ी बनती है। क़ैदियों के वे जैसे राजा हों और सच भी तो है। किसी भी कैदी के लिए, नया हो या पुराना, वे दोनों ही तो जेलर तक से लड़ने को तैयार हो जाते हैं। फिर इस प्रकार अपना सदा साथ देने वालों के इशारे पर कैदी मर मिटने को क्यों न तैयार रहें ! गफ़्फार और मेवालाला दोनों ही 'डामुली' हैं। कालापानी जाते पर अब तो काला-पानी टूट गया। अब तो यहीं उन्हें पूरी जिन्दगी बितानी है। सो बिहारी ने सोचा कि इन्हीं दोनों को किसी तरह मिलाया जाय।

उसे याद आया। गफ़्फार तो चक्की घर में होगा पर मेवालाल जरूर ही बाग में होगा। क्योंकि उसकी आज वहीं ड्यूटी है वह मेवालाल की खोज में चल पड़ा। "गोरा बारिक" पार करके बाग मिलता है। वहां जाते ही देखा कि पपीते के उस पेड़ के नीचे मेवालाल घास छील रहा था। पहुँचते ही बिहारी ने पुकारा, "मेवा !"

कुदाली सहित उठा हाथ उठा ही रह गया। आधा झुककर खड़े-खड़े मेवालाल ने सिर घुमाकर देखा। बिहारी को देखकर ही माथा ठनका। कुछ अपना मतलब होगा, तभी इतने प्यार से पुकारा है। बड़ा काइयां है। और मेवालाल देखता ही रह गया। देखने के ढंग से पता लगता था कि वह प्रश्न कर रहा है, "......क्या है ?"

"छोड़ दो काम, चलो तमाखू पिला लाऊँ। उधर चलो, छांह में ! यहां तो वार्डन देख लेगा।" बिहारी ने बहुत पास आकर कहा।

"पर इस कृपा की निगाह का कारण !" मेवालाल ने आश्चर्य की मुद्रा

में पूछा—फिर जैसे कुछ समझ गया हो, दो बार गरदन हिलाकर कहा, "अच्छा ! यह मेट बनने की खुशी में !"

"अरे भाई मेवालाल, तुम ठहरे अक्खड़ आदमी । तुम्हारी इसी में कट रही है, पर क्या करूँ ? मैं तो जानता हूं कि जब पानी में बसना ही है तो मगर को बाप कह कर ही रहा जा सकता है।" छांह की ओर मुड़ते हुए उसने कहा । मेवालाल ने भी कुदाल वहीं खड़ी कर दी । फिर दोनों हाथ कमर पर रखकर जैसे कमर सीधी की और फिर दाएं हाथ से माथे का पसीना पोंछते हुए कहा, "मेट, तुम्हारे ही कलेजा में ताकत है कि खुशामद करो । मुझसे तो यह होता नहीं । अरे जेल में तो हूँ ही । बहुत करेंगे डंडा बेड़ी भी दे देंगे और क्या ?"

मेवालाल के इस निर्भीक भाषण का बिहारी के पास कोई उत्तर न था । उसने चुपचाप अपने सिर पर की नीली टोपी के नीचे से तमाखू निकाली और बाएं हथेली पर मलते हुए चुपचाप चलता रहा । छांह में, वार्डन की निगाहों की ओट में पहुँचे नहीं कि बिहारी ने मली तमाखू पर ताली पटकी और हाथ मेवालाल की ओर बढ़ा दिया । अपने हाथ को जांघिया पर रगड़कर मेवा-लाल ने एक चुटकी तमाखू की उठाई और ओठों में दबा लिया । बची को, बिहारी ने भी अपने मुंह में डाला । फिर मेवालाल के कंधे पर हाथ रखकर खड़ा हो गया ! मेवालाल रंग-ढंग देख रहा था ! शंका कुछ दृढ़ हुई पूछा, "कहो मेट क्या बात है ?"

"कुछ बात है तभी तो ।" उसने कहा, और उत्तर में मेवालाल ने भी ऐसे सिर हिलाया, मानो कह रहा हो, "सो तो मैं समझता ही हूँ ।"

बिहारी ने कहा, "देखो मेवा, मेरी तरक्की तुम्हारे हाथ में है !"

"तरक्की ? मेरे हाथ, क्या मैं कोई जेलर हूँ या जमादार ?"

"तुम कुछ भी न हो, फिर भी तुम्हारा हाथ लगा देना ही काफी होगा ।" बिहारी के शब्दों में साफ खुशामद थी ।

"सो कैसे ?"

"जेलर साहब का हुक्म है कि इस बार होली न हो ।" बिहारी ने शब्दों को तौलकर कहा ।

"क्या ! यह मेरे हाथ में नहीं है । जब सभी खेलेंगे, मैं भी खेल लूँगा,

नहीं खेलेंगे, तो चुप रहूंगा।"

"वाह, तुमने भी खूब कही। भला तुम्हारे इशारे के बिना जेल में कभी कुछ हुआ है ! अगर तुम हाथ नहीं दोगे तो कोई क्या खेलेगा ?"

"मैं तो कभी हाथ नहीं देता। पर अब पूछता हूँ कि आखिर यह नया जेलर क्या अपने को लाट साहब समझता है। मैं पूछता हूं, जेल में कभी होली बन्द हुई है कि ये ही बन्द करावेंगे ! कौन कहे कि रंग वह देते हैं। अरे किसी तरह कैदी लोग दिन भर धूल माटी खेलकर अपना जी हरा-भरा कर लेते हैं, सो भी नहीं देखा जाता?" मेवालाल ने काफी जोश में यह शब्द कहे। बिहारी ताड़ गया कि तमाखू की 'घूस' भी कुछ असर न कर पाई। वह तो जानता ही था कि मेवालाल यों हाथ आने को नहीं। परसों ही होली थी। कुछ तो करना ही पड़ेगा सो बहुत नम्र बन कर कहा, "पर मेवा, जेलर साहब कह रहे थे। एक तो कपड़े फटते हैं, दूसरे साबुन खर्च होता है, तीसरे काम का दिन भर का हरजा, इसी से, नहीं तो किसी को भी क्यों बुरा लगेगा !"

"सो मैं खूब समझता हूं। और हमें तो ताज्जुब है कि तुम क्यों इस चक्कर में पड़ते हो। अरे भाई, चाहे जितने बड़े मेट बनों, कैदी ही तो रहोगे। अपने भाइयों से बुरा बनकर रहना ठीक नहीं।"

"मैं क्यों बीच में पड़ूँ ? मुझसे कहा गया था.......।"

"हां भाई, बीच में तो कोई भी नहीं पड़ता, पर अब तक तुम कैदी थे और अब मेट हो, यह क्यों नहीं सोचते !" व्यंग करके मेवालाल ने कहा।

बिहारी के पास कोई उत्तर नहीं था। वह क्षण भर तो चुप रह कर अपने मन में उठते और विलीन होते विचारों में उलझा रहा फिर कुछ खट्टे दिल से कहा--"परन्तु जैसा जेलर का हुक्म है, होली नहीं होगी।

मेवालाल में इन शब्दों के सुनने की आदत और शक्ति कहां—उसी ढंग से कड़ककर बोला--'लेकिन यह है तो हर साल का नियम है। होली, होगी, किसी के रोके नहीं रुकेगी। चाहे धूल-कीचड़ की हो, चाहे खून की।" कहते-कहते उसने एकदम से चेहरा लाल करके आंखे तरेर लीं। देखकर बिहारी एक मिनट को काँप उठा और वहाँ रुकना उचित न समझ कर चल

दिया और दो गज दूर जा चुकने पर बोला, "भाई मेरा क्या, समझा रहा था, न मानो न सही। लेकिन होली तो नहीं ही होगी।"

मेवालाल ने पुकार कर कहा, "हां-हां, तुम्हारे बन्द किए नहीं होगी। मेट बन गए हो तो क्या हमारी हंसी खुशी भी अच्छी नहीं लगती। बदमाशी! और मुंह चिढ़ाकर मेवालाल भी फिर काम पर वापस आ गया।

बिहारी वहाँ से सीधे गफ्फार के पास पहुँचा। गफ़्फ़ार को देखते ही उसने बड़बड़ाना शुरू किया, "क्या बताऊँ, आज तो किसी के भले की भी कहो तो बुरा होता है। मैंने कहा ही क्या था।"

तभी बीच में ही गफ्फार बोल उठा, "क्या बात हुई है, मेट साहब!"

"कुछ नहीं भाई, समय खराब है।"

"पर हुआ क्या?" गफ्फार ने फिर पूछा।

"कुछ नहीं, यही कि जेलर साहब का हुक्म है कि इस साल होली नहीं होगी। मैंने मेवा से राय की और वह मुझ पर गरम हो गया। मानो मैं कोई झगड़ा कर रहा हूं।" बिहारी ने रूप बदला।

"अच्छा तो होली बन्द होगी। भला ऐसा कहीं हुआ है? होली कभी जेल में सूनी गई है? तसले तो बजेंगे ही, धूल तो उड़ेगी ही कीचड़ खेला ही जायगा और गुड़ का मालपुआ तो राशन में काटकर बनेगा ही।" गफ़्फ़ार ने शायद बिहारी की बात नहीं समझी थी सो वह यह कहने लगा।

"पर इस साल कुछ नहीं होगा सरकारी हुक्म है।" बिहारी ने सुनाया। "कुछ नहीं होगा। भला कौन मानता है?"

"पर तुम्हारी क्या राय है?" बिहारी ने पूछा।

"जरूर होनी चाहिए। एक यही तो हंसने, उछलने, खेलने का मौका मिलता है सो भी ………।"

"अरे वाह गफ़्फ़ार! तुम भी होली के हिमायती हो? अरे तुम तो मुसलमान हो न!"

"हां हूं तो, फिर ?" गफ़्फ़ार ने आश्चर्य से पूछा।

"तो तुम भी होली खेलोगे ?" बिहारी ने अपनी शक्ति भर तान कर तीर मारा।

"लेकिन जेल में यह सब नहीं चलता। होली तो दोनों ही खेलेंगे। चाहे हिंदू हो चाहे मुसलमान। यहां इस पत्थर की चहारदीवारी के भीतर की दुनिया, बाहर की दुनिया से बिल्कुल उल्टी होती है, मेट साहब! यहां भी अगर हिन्दू मुसलमान की पहचान हो तो फिर क्या फरक रह जाय ? हम तो नहीं मानते यह भेद।" गफ़्फ़ार ने एक सांस में यह कह दिया और बिहारी मुंह खोले सब चुप-चाप सुनता रहा, पीता रहा। तभी फिर गफ़्फ़ार ने आश्चर्य से आपनी ठोढ़ी पकड़ कर कहा, "और मेट साहब, तुम हिन्दू हो र भी होली न हो, यह चाहते हो ?"

बिहारी अजब संकट में पड़ा! मानो कोई परीक्षा हो रही हो। क्या उत्तर देता। घबड़ा कर बोल उठा, "भाई, मैं क्यों चाहूंगा कि न हो, पर हम तो जानते हैं कि जो सरकारी हुक्म हो वही होना चाहिए। जेल में रहकर मगर से बैर ? भाई, रहना तो उन्हीं जेलर के नीचे है।"

"ठीक है, यही था तभी तो मेट बनाए गए हो।" एकाएक गफ़्फ़ार ने कह ही तो दिया। बिहारी के सारे शरीर में जैसे आग लग गई हो। एकदम से घूमकर वह जेल के आफिस की ओर चला गया।

गफ़्फ़ार क्षणभर उसे यों जाता देखता रहा। मन में कुछ शंका हुई। झट वह अपना काम छोड़, बाग में मेवालाल के पास जा पहुँचा और कहा, "मेवा, मेट तो हमसे भी बुरा मान गया।"

"कौन मेट ?" मेवालाल ने पूछा।

"वही बिहारी!"

"क्यों ?"

"आया था कमबख्त समझाने कि तुम मुसलमान हो और होली में हिस्सा न लो।"

"अच्छा तो वह हरामी यह चाल चल रहा है। यहां हिन्दू मुसलमान में फूट डालना चाहता है। गफ़्फ़ार, मै साफ कहता हूं।" मेवा-लाल बहुत उत्तेजित हो चुका था, "अगर तुम चाहो तो अपने मुसलमान

भाइयों को अलग कर लो। होली तो होगी और होकर रहेगी। चाहे लाठी-चार्ज हो, चाहे गोली चले। खून की ही होली होगी। अगर चाहो तो साथ दो। इस प्रकार हमें दो कर के यह हमारी ज़िन्दगी हराम करना चाहता है।

"तुम भी क्या बातें करते हो, मेवालाल भाई! क्या गफ़्फ़ार तुमसे अलग जायगा। अरे भाई इतने साल से देख रहा हूं। कभी तो होली नहीं रुकी, फिर इसी साल, इस बिहारी के चलते रुकेगी? कभी नहीं!" गफ़्फ़ार ने कहा।

उसी रात को जब बैरक में सभी बन्द हुए तो गफ़्फ़ार और मेवालाल ने राय की। सीताराम, चन्दू और अलीजान को भी बुला लिया, "परसों होली है। कल ही इस बदमाश मेट को 'कम्बलकूट' कर देना है ताकि परसों हम होली खेल सकें। अगर उसकी कोई दवा न की गई तो वह जरूर ही परसों उत्पात कर देगा।"

और दूसरे ही दिन, सबेरे से ही पांचों ताक में रहे। मेवालाल, गफ़्फ़ार, अलीजान, सीताराम और चन्दू। बिहारी के सिर पर शामत नाच रही थी। यह जेलखाना था, बाहर की दुनिया से बिलकुल भिन्न। इन कैदियों को धर्म के नाम पर, हिन्दू मुसलमान के नाम पर दो नहीं किया जा सकता। इनके दिल में एकता का जो समुद्र लहरा रहा था भला उसे कैसे काटा जा सकता था। जेलर ने समझा था कि मेट के द्वारा वह यह सब करने में सफल हो सकेगा।

दोपहर को बारह बजे वार्डरों की ड्यूटी बदलती है। सारे कैदियों को खाना बांटा जाता है। यह समय कुछ मिनटों के लिए चहल-पहल से भर जाता है। शोर इतना होता है कि पुकार नहीं सुनाई पड़ती। और मेवालाल वगैरह को यही मौका मिल गया। बिहारी मेट अपनी पेटी कसता हुआ गोरा बैरक के पीछे से गुजरा। यह स्थान कुछ अधिक सुनसान है। मेवालाल आदि ताक में थे ही। बगल से जाते हुए मेवालाल ने बिहारी को धक्का दे दिया। वह अकड़ गया, "देख के नहीं चलते?"

"धक्का ही तो लग गया--क्या कोई औरत...!" हंसकर मेवालाल ने कहा।

"चुप रहो। शिकायत कर दूंगा तो 'सेल' पा जाओगे। डंडा बेड़ी...।"

बीच में ही बात काट कर मेवालाल भी तन गया, "अबे भाग, तुझ जैसे बहुत देखे हैं। चल-चल !"

"चुप रह !" बिहारी ने डाँटा। मन में वह समझ रहा था कि यह कल का बदला है। तभी अपनी कमर की पेटी भी वह खोलने लगा। मेवालाल को समझते देर न लगी। आगे बढ़कर बिहारी का हाथ पकड़ लिया। तभी पीछे से आकर गफ्फार ने बिहारी के मुंह पर एक जेली अँगौछा छोड़ दिया ताकि वह चिल्ला न सके। वह अँगौछा कसने लगा। बिहारी ने देखा मामला गड़बड़ है। अपने हाथ-पाँव चलाने लगा, पर दोनों हाथ बुरी तरह मेवालाल के कब्जे में थे। तभी गफ्फार ने इशारा किया और अलीजान और चन्दू ने एक कम्बल लाकर बिहारी पर डाल कर जोरों से दबाया ! कम्बल को लिए हुए वह बैठ गया। कम्बल बुरी तरह उस पर लपेट दिया गया। तब पास तैयार खड़े सीताराम ने एक डेढ़ हाथ के मजबूत सोंटे से कम्बल पर से ही प्रहार शुरू किया। फिर तो पाँचो जुट पड़े। कम्बल में लिपटा बिहारी, मेवालाल और गफ्फार के अलावा किसी और को न पहचान सका। कम्बल में दबा, लिपटा वह बाहर निकलने की विफल कोशिश करता रहा और ऊपर से कुटाई होती रही।

जब काफी कुटाई हो चुकी तो पांचो नव-दो-ग्यारह हो गए। चोट से कराहता हुआ, जब बिहारी ने अपने को कम्बल से अलग किया तो मैदान साफ था। वह तो कम्बल से ढंके जाने से पहले केवल गफ्फार और मेवा को, ही देख पाया था। परन्तु दो,तीन और जरूर थे। उन्हें वह नहीं देख पाया। उसकी सारी देह दर्द करने लगी। इतने आदमियों ने इकट्ठे पीटा था। मन ही मन उसे अपने पर पश्चाताप भी हो रहा था और कुछ कड़ुवाहट मिश्रित उत्तेजना भी आ रही थी--मन ही मन उसने सोचा, तुम दोनों से बदला न लिया तो नाम नहीं।

और दर्द से कराहता-रोता वह जेलर के पास पहुँचा। रो-रोकर सब

बताया और मेवालाल और गफ्फार की कस के शिकायत की।

जेलर सुनते ही जल गया--"अच्छा ! तो आज ही दोनों को सेल में बंद कर दो और डंडा बेड़ी भी डाल दो।" जेलर का कहना था कि आफिस में टँगी दो डंडा बेड़ियाँ उतार ली गईं और मेवालाल तथा गफ़्फार को बुलाया गया।

गफ्फार और मेवालाल के आफिस में बुलाए जाने पर भीतर काफी चहल पहल मची। चन्दू और अलीजान ने गिरोह बनाया और निश्चय किया कि अगर इन के दोनों लीडरों को कुछ भी हुआ तो सामूहिक 'हल्ला' करेंगे। और जरूरत पड़ेगी तो बाबू वार्ड में 'सुराजी कैदियों' के पास भी खबर भेज कर उनकी सहायता लेंगे—पर कल की होली तो अब जरूर ही होगी।

लगभग चार बजे लोगों ने देखा कि कम्बल ओढ़े, बिहारी आकर चुपचाप अपने बैरक में एक कोने में लेट रहा। बुखार से उसकी देह तप रही थी गर्म तवे सी और मार की चोट से सारा शरीर फूला था—मुँह भी फूलकर ऐसा हो गया था कि पहचाना जाना कठिन था। चन्दू और अलीजान ने देखा और मुँह चिढ़ा दिया। पास के सभी कैदी देख कर हंस पड़े—चारों ओर एक मुक्त अट्टहास छा गया। और देखकर बिहारी के मन की जलन दूनी हो गई।

शाम को दिए जले ! गफ्फार और मेवालाल हाथ-पांव में डंडे बेड़ी से सुसज्जित वापस आए। उन्हें बैरक से अलग सामने वाले 'सेल, में रखा गया।

रात को सभी कैदी बन्द हुए। एक कोने में पड़ा बिहारी कराह रहा था। होली बन्द होकर रहेगी—रह रह कर वह यही मन में दुहरा रहा था। चोट से उसका शरीर फूला था। नस नस, पोढ़-पोढ़ दर्द कर रही थी। परन्तु मन के एक कोने में एक और आवाज उठ रही थी रह रह कर। उसने ऐसा क्यों किया ? क्यों वह चाहता है कि होली न हो ? क्यों उसने कैदियों में फूट डलाने की कोशिश की ?

पर इन प्रश्नों का उसके पास केवल एक ही उत्तर था, "वह मेट है।

कैदियों से ऊँचा—मेट, मेट !"

काफी रात गए दस के आसपास का समय था। उसे नींद नहीं आ रही थी। बैरक के पीछे की बड़ी दीवाल के बाहर जेल के बंगाली डाक्टर के घर में शायद रेडियो बज रहा था। सूरदास का पद—'होली हो बृजराज दुलारे...होरी...।"

कानों की राह ये कड़ियां मस्तिष्क में पहुँचों तो लगा एक परदा हट गया। उसका दिमाग जेल से हटकर गाँव में पहुँच गया। होली के पहले की रात। होलिका जल रही है। गांव भर के युवक और बूढ़े-बच्चे सभी मस्त नाच रहे हैं, धूल उड़ रही है। गोबर चल रहा है। मिठाई बंट रही है। और औरतें होलिका की पूजा कर रही हैं। सभी एक स्वर में भेदभाव मिटा कर गा रहे हैं, "होली हो बृजराज दुलारे, होरी........।"

काश ! वह भी किसी प्रकार, चाहे एक क्षण को ही उनके बीच पहुंच जाता। मस्ती का आलम लिए हुए होली आ रही थी। और वह यहाँ जेल की भी होली बन्द कराना चाहता था—धिक्कार ! धिक्कार ! ! कल होली जरूर होगी—वह जेलर से कह देगा—अपनी टोपी पेटी अपने पास रखें। वह तो कैदी है, मेवालाल और गफ्फार के साथ होली जरूर खेलेगा।

तभी सामने की सेल से पुकार कर गफ्फार ने कहा, "कहो, चन्दू, अलीजान, अबे सभी सो गए ?"

"नहीं, नहीं भाई, कहो क्या हुक्म ?" एक साथ ही चन्दू और अलीजान बोले।

"अबे कुछ गाओ तो। आज की रात भी सोने की है ? हां, होली है !" यह मेवा लाल की मस्त आवाज थी।

बैरक में अपने अपने घर गांव के सपनों में डूबे सभी कैदियों की रगों में खून तेजी से दौड़ गया। सभी उठ बैठे।

सेल से गफ्फार और मेवालाल गा रहे थे, "नन्दलाला खेलैं होरी ...हो नन्दलाला . . . . ।"

बैरेक में सभी नाच उठे और सारा जेल गूंज उठा, 'नन्दलाला खेलैं होरी !"

अर्द्धचेतनावस्था में पड़ा दर्द से कराहता हुआ। बिहारी भी अधिक न सह सका। धीरे से उठा और आकर सभी में मिल गया। सभी की गूंजती आवाज में धीरे-धीरे वह भी कह उठा, "नन्दलाला खेलें होरी....नन्द-लाला !!"
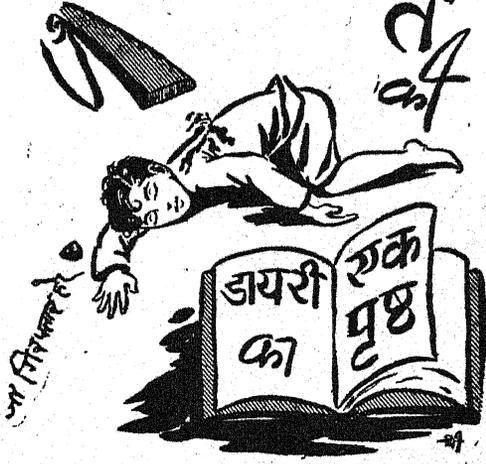
अज्ञात की
डायरी का
एक पृष्ठ

आज मैं बम्बई में हूँ। मुझ जैसे एक बिहारी नौजवान के लिये बम्बई क्या है, कहना मश्किल है। विशाल नगरी बम्बई को देख कर हमारी लन्दन और पेरिस देखने की ललक आधी पूरी हो ,गई। ये बड़ी बड़ी, चौड़ी चौड़ी सड़कें, किनारों पर बड़ी बड़ी अट्टालिकाएँ। अट्टालिकाओं के निचले हिस्सों में बड़े बड़े सौदागरों के दफ्तर! ये दफ़्तर, केवल एक एक कमरों के ऊपर जहां करोड़ों का ब्यापार होता है। ऊपर हिस्से में भी दफ्तर और कई मंजिल, सभी दफ़्तर! हां, शायद सबसे ऊपरी मंजिल पर लोग रहते होंगे। वह सबसे ऊपरी हिस्से पर एकआध जनानी धोतियों का लटकाना यह बताता है।

इस बम्बई में मोटरों की तादाद नहीं। एक मोटर का नम्बर १२५८० तो हमने आज सुबह ही देखा है। और इन मोटरों की डिजाइनें! समझना भी मश्किल है—कुछ नाव, के शकल की, कुछ जहाज की। दोमहली मोटरें भी! और यह बड़े बड़े होटल। पैसे हों तो किसी बड़े होटल में अच्छा से अच्छा खाना खाया जा सकता है। सुबह तो आज बड़ा आश्चर्य हुआ। जब मैं उस मामूली से होटल में बैठा खाना खा रहा था। वह युवक जो आकर मेरी ही मेज पर बैठ गया था—मैंने समझा कोई होगा पर उसके अच्छे

कपड़े ! मैंने समझा था, बहुत होगा किसी फिल्म कम्पनी का एक्टर होगा पर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने स्वयं ही परिचय देकर बताया। वह मेवाड़ की एक बड़ी रियासत का राजकुमार था। बताइये तो, बम्बई के होटल में राजा और प्रजा बराबर ! केवल पैसे का मुकाबला है।

हां, तो मैं कांग्रेस की महासमिति की मींटिंग देखने आया था। पर मींटिंग पूरी कहां हो पायी ? सुबह ही गांधी जी तथा दूसरे सभी लीडर गिरफ्तार हुए हैं। अब मेरे लिये भी कोई रास्ता नहीं है। कहां जाऊं। किसी दूसरे प्रान्त के खद्दरधारी को देखकर पुलिस तुरन्त गिरफ्तार कर लेती है। और मेरे पास खद्दर के कपड़ों को छोड़ कर कुछ नहीं है। अगर पहले से मालूम होता तो अवश्य ही एक जोड़ा पतलून और कमीज लेता आता। शहर में भी पूर्ण हड़ताल है नहीं तो यहीं खरीद लेता। खैर, अब दो दिन काटना ही है। बम्बई के सभी स्टेशनों पर सी० आई० डी० का राज्य है।

खैर, मेरे सामने तो यह समस्या है ही कि क्या किया जाय। हां, कल की एक घटना याद हो आई। डायरी में उसका उल्लेख जरूरी भी है। मैं उसी ग्रांड होटल में शाम को चाय पीने गया था। 'आमलेट' और 'आलू चाप' खा चुका था—चाय की इन्तजारी थी कि सड़क पर भगदड़ मची। मैं मेज छोड़ कर खिड़की पर जा खड़ा हुआ। वहां देखा भीड़ भागी आ रही है। पीछे पीछे आंसू गैस छोड़ती हुई पुलिस !

पुलिस दौड़ा रही थी—लोग भाग रहे थे। 'लोग' नहीं शायद विद्यार्थी थे। ऐसे भाग रहे थे मानो मौत दौड़ा रही हो। और ठीक भी तो है—पुलिस वाले भी तो मौत के दूत से कम नहीं हैं आजकल।

और उनकी दौड़ के साथ ही पटरियों पर खड़े लोग भी भागे। कुछ सीधे, कुछ आगे, कुछ पीछे, कुछ गलियों में मुड़े। और ये भगोड़े भाग कर जहां कहीं भी पहुँचे कि सभी भागे। मानो उस दिन का कार्यक्रम ही यही था। भागना, केवल भागना। चाहे कोई कुछ करे या न करे। भागे जरूर। भागने से लगता था मानो कुछ करके भागे होंगे पर यह क्या ! अगर कहीं पुलिस ने गोली चला दी और कोई गिर पड़ा तो तुरन्त ही उसका नाम शहीदों में लिखा जायगा। लोग जानेंगे—"अगस्त क्रांति के शहीद श्री………।"

अखबारों में छपेगा—"बम्बई की अमुक सड़क पर श्री..........को पुलिस ने गोली मारी। आप कांग्रेस के अच्छे कार्यकर्ता थे.......।"

और केवल भागने पर ही अमुक का नाम अमर हो जायगा।

और अब रास्ता साफ था। मैं देख रहा था—पुलिस ने भगा दिया। लोग भाग गये।

और रास्ता साफ—मैदान साफ !!

तभी एक दृश्य देखा—! आह ! सोचता हूं तो आंखें बन्द हो जाती हैं। रोंगटे खड़े हो जाते है।

भागती भीड़ चिल्लाती जा रही थी, "गांधी जी की जय.......! अंग्रेजों भारत छोड़ दो...! करेंगे या मरेंगे।"

और भीड़ तो भाग गई पर यह तीन नारे—विप्लवी नारे अब भी वातावरण में गूंज रहे थे।

और उस सन्नाटी सड़क पर—देखो वह बालक, छोटा सा, गुलाब सा बालक। जाने किस गली से दौड़ा दौड़ा आया और यह क्या! उसके हाथ में खाली मिट्टी का एक ढेला। बीच सड़क पर वह क्षण भर को रुका मानो कुछ तजवीज रहा हो। और दूसरे ही क्षण खली मिट्टी वाला हाथ चलने लगा। सन्नाटी सड़क पर उसने पलक झपते ही लिखा, "गांधी जी गिरफ़्तार हो...........।" शायद वह "गए" और लिखता और फिर भाग जाता।

"गांधी जी गिरफ़ार हो गए।" यह अमिट वाक्य पृथ्वी की छाती पर वह सदा के लिये लिख देना चाहता था। एक युग के बाद के लिये—आने वाली पीढ़ियों के लिए कि लोग जानें कि अंग्रेजी काली सरकार ने क्या लिया था—गांधी को गिरफ़ार करके उसने देशकी शांति को किस प्रकार भंग किया था।

कि "गए" वह न लिख पाया और वह अंग्रेज सैनिक तेजी से बढ़ा—जालिम! जल्लाद!! शायद गोली चलाए, पर नहीं उसने बन्दूक उल्टी पकड़ी और बालक की पीठ पर एक कुन्दा जमाया। देखकर मेरी आत्मा कराह उठी। मुझे क्या करना चाहिये—मैं कुछ सोचूं इसके पहले ही वहां दृश्य

बदला—और देखिये दूसरा "सीन"।

—बालक की पीठ लहूलुहान हुई है। लहू बहकर सड़क पर छाने लगा। है मानो बालक के उस वाक्य पर लाली जम रही है। और तड़प कर बालक अन्तिम सांसें छोड़ रहा है।

बालक शहीद हो रहा है।

गांधी जी का नाम लिख कर मर रहा है!

वह बालक! फूल सा बालक!! जाने परिवार का अकेला हो तो? घर वालों को पता भी न लगेगा—और बालक मर जायेगा—शहीद हो जायेगा। फिर पुलिस वाले उसे जरूर ही उठाकर ले जावेंगे—कहीं फेंक देंगे......।

फूल सा वह बालक, शहीद!

गुलाब का फूल, पंखुड़ियाँ तक नोच डाली गई हैं। अब वह किसी कूड़े में फेंक दिया जायेगा।

और वह गोरा हंस रहा है। हत्या करके, शान.से। गांधी के नाम पर मारकर! नमक अदा किया है उसने!

विजय के नशे में वह चूर है! नर पिशाच!!

अरे, यह क्या? सामने वाले सैलून का दरवाजा खुला। और वह आगे बढ़ा—सैलून का नाई। शायद उससे देखा नहीं गया यह! हाथ में हजामत का छुरा खुला था। और वह आगे बढ़ा—चुपके चुपके—शिकार हाथ से जाने न पावे।

और पलक झपते ही, पूरा छूरा, ताजा तेज किया हुआ छूरा उस गोरे सैनिक की गोरी पीठ में—पूरा का पूरा भीतर!

गोरे के विजय का नशा गायब!

बंदूक पटक कर वह भागा और पीछे देख भी न पाया। चार कदम ही भागा कि उसने जमीन चूम ली। उसकी विलायती कराह कोई समझ भी न पाया। अंतड़ियां कमर के पास से बाहर झूल गईं। वह पृथ्वी पर लोट कर छटपटाने लगा।

बालक ठण्डा हो चुका था और गोरा भी क्षण भर में ठण्डा हो

जायेगा ।

और वह सैलून का नाई—क्षण भर दम तोड़ते गोरे को देखता रहा फिर झट छूरा फेंका और गोरे की छोड़ी बन्दूक उठाई और नौ दो ग्यारह !

जाने किस गली में वह खो गया—और मैं सब देख रहा था—तभी दूसरी भीड़ उधर से भागी—"करेंगे या मरेंगे !!"

मैंने सोचा—मैं क्या करूं ? कहां जाऊं ? क्या मैं भी एक शहीद बनूं ? और मैं कुछ निश्चय न कर सका । मुझे पहले अपने प्रांत में पहुँचना था ।

और घूमकर देखा—मेज पर चाय ठण्डी हो चुकी थी । होटल वाले को पैसा दिया और अब मै होटल के बाहर था—सीढ़ी उतरता·····।"

यह फटी हुई डायरी किसकी है, यह मैं नहीं जानता । पर उस दिन एक कबाड़ी की दूकान में रद्दी कागजों में एक कापी पा गया । अवश्य ही डायरी का लेखक शहीद हुआ होगा—हमें यकीन है । उस बिहारी नौजवान को हम नहीं जानते पर इस स्वतन्त्रता प्राप्ति में उसका भाग अवश्य है । उसे धन्य-वाद ! आज की पीढ़ी की ओर से—स्वराज्य का सुख भोगने को जो जीवित हैं ।

नेता का
जलूस

माधो की अम्मा आज जल्दी ही उठीं। दूकान सजाना है, आज नेता आ रहे हैं। दूकान के सामने ही फाटक लगेगा। जुलूस इधर से ही जाएगा। नेता की मोटर क्षण भर को दूकान के सामने अवश्य रुकेगी, यही सब सोच कर माधो की अम्मा आज जल्दी ही उठीं और दूकान पर आ गईं।/

चौराहे पर चार रुपए की एक कोठरी के भीतर इनकी छोटी सी दूकान है। पान और सिगरेट और बीड़ी—बिक्री की यही खास चीजें हैं। जाड़े में चाय का भी प्रबन्ध कर लेती हैं।

अब इनका शरीर नहीं चलता इससे दूकानदारी के अलावा वे दूकान की सफाई की ओर ध्यान नहीं दे सकती। परन्तु आज तो उन्हें सफाई कर ही लेनी है। इसलिए सभी चीजें झाड़ने-पोंछने में लगी हैं। डिब्बे आदि के बाद जब चौकी भी झाड़ चुकीं, तो सजावट की बारी आई। पहले तो शीशे को पानी से धो कर फिर कपड़े से सुखाया। कल शाम को खरीदी कागज की तिरंगी झंडियाँ उपर बाँधी। फिर झट भीतर गईं और 'पासिंगशो' के पुराने टीन के बड़े डिब्बे में रखे सोलह बीड़ी के बंडल 'चर्खा मार्का' निकाल लाईं, उन्हें शीशे के नीचे करीने से सजाया—ध्यान रखा कि बीड़ी का चर्खा-छाप

लेबिल सामने ही रहे। फिर टोकेरी से पान निकाला और हर ढोली को भरी बाल्टी में भिगों भिगों कर तर कर करसे चौकी पर सजाती गईं। इतना कर चुकने पर क्षण भर को रुकीं—मानों कुछ याद कर रही हों। क्षण भर बाद फिर भीतर गईं और सिगरेट के कई पैकेट उठा लाईं। 'पासिंग शो, 'सीजर' दूसरी बिलायती सिगरेटों के पैकटों को छिपा कर रख दिया। उनके स्थान पर नई और स्वदेशी--'जयहिन्द' और 'इण्डिया' सिगरेट के पैकटों को ही आज बाहर सजाया। शहर के नेता यूसुफ मियाँ की यही सलाह है कि कोई विलायती चीज सड़क पर दिखलाई नहीं पड़नी चाहिए। अब तो स्वराज्य मिल गया, अतः स्वदेशी माल ही बिकना चाहिए। यूसुफ भाई की यह बात माधो की अम्मा को ठीक जँची थी—आज तो नेता के आगमन में वह 'जयहिन्द' सिगरेट बेच ही रही है पर यदि उसे ग्राहक पसन्द करेंगे तो वह विलायती न बेच कर सदा यही बेचेंगी। पर यह सिगरेट चल नहीं सकती, यह जानती है। कल ही तो रात को शफी मियाँ ने एक पी कर कहा था—'यह सिगरेट तो कूड़ा है कूड़ा! मालूम होता है कि तम्बाखू की जगह घास भर दी है।' शफी मियाँ की इस आलोचना का उस समय के उपस्थित सभी ग्राहकों पर असर पड़ा था। माधो की अम्मा ने तो निश्चय कर लिया है कि चाहे जो कुछ भी हो आज तो वह स्वदेशी सिगरेट ही बेचेंगी। नेता जो आ रहे हैं!

और इस प्रकार की बहुत सी तैयारी कर के जब वह उदास चित्त बैठी थीं कि एकाएक काम की हड़बड़ी में व्यस्त यूसुफ भाई उधर आ निकले।—"वाह माधोकी अम्मा! तुमने तो अपनी दूकान आज पूरी स्वदेशी ही बना दी है।"

"क्यों नहीं भइआ! स्वराज्य दिलाने वाले नेता जो आ रहे हैं।" कहते हुये माधो की अम्मा ने साफ देखा कि यूसुफ की नजर सिगरेटों पर गड़ी थी। यूसुफ का तात्पर्य वह समझ गईं। पर यह बहुत बुरा है। दिन भर में यूसुफ चार पाँच सिगरेट यों ही पी जाते हैं। माधो की अम्मा ने निश्चय कर लिया है कि अब वह अधिक बिना पैसे के न देंगी। पर यदि यूसुफ ने माँगा तो आज के दिन तो दे ही देंगी। आज भी क्या इन्कार करना? नेता जो आ रहे थे।

और आखिर उस फक्कड़ यूसुफ से जब नहीं रहा गया, तो उसने कहा

ही—"ओ माधो की अम्मा ! कम से कम एक नई 'जय हिन्द' सिगरेट तो पिलाओ।"

माधो की अम्मा ने अपने आप को इस दान के लिये तैयार कर लिया था, अतः अधिक कष्ट उन्हें नहीं हुआ और डिब्बी खोल कर एक सिगरेट यूसुफ की ओर बढ़ा दी। फिर दियासलाई दिया और जब यूसुफ सिगरेट जला चुका तो सलाई वापस ले ली। यूसुफ ने स्वदेशी सिगरेट का स्वाद लेकर एक लम्बा कश खींचा और धुआँ फेंक कर दूर तक देखता रहा। फिर क्षण भर चुप रह कर बोला, "क्यों, माधो की अम्मा ? यदि आज माधो होता तो कितना खुश होता ? स्वराज्य के लिए उसने जान दी, पर स्वराज्य देख न पाया।"

यूसुफ के ये शब्द माधो की अम्मा को हिला देने के लिये काफी थे। उनकी आखें तर हो गईं। पाँच वर्ष पहले की वे घटनाएँ एक दम से याद हो आईं—जब यहीं इसी चौराहे पर माधो को गोरे सार्जेन्ट ने गोली मारी थी।

पाँच वर्ष पूर्व वह अगस्त का महीना। माधो की अम्मा को और तो मालूम नहीं ? वह इतना ही जानती है कि एक दिन बड़ा जुलूस निकला था। सभी चिल्लाते थे—"अंग्रेजी राज का नाश हो।" शहर के सभी जवान उसमें शामिल थे। सिपाहियों ने जुलूस को आगे बढ़ने से रोका था। यूसुफ गिरफ़ार हुए थे, फ़िर बाजार की सभी दुकाने बन्द हो गई थीं और रात ही रात जाने क्या क्या हुआ ? सबेरे उठकर माधो ने बताया था, "अम्मा कल रातको सुराजियों ने बड़ा उत्पात किया है। देखो आज क्या होता है।"

"क्यों काहे का डर है ?"

"अरे तुम तो यहाँ के कोतवाल को जानती ही हो कि वह कितना जालिम है। सुना है फौज मँगवाई है, फौज।"

"अरे बेटा ! तो आज फिर दूकान मत खोलना—और घर में ही रहना।"

अम्मा की इस डरावनी बात पर माधो को हसी आ गई। बोला—"वाह अम्मा ! तुम भी कितना डरती हो ! मैं घर में क्यों रहूँ ? मैंने क्या किया है जो डरूँ ?"

अम्मा भला माधो से क्या बहस करती, इसलिए चुप हो रही।

और जब बारह बजे के करीब माधो खाना खा रहा था कि एकाएक सड़क पर शोर मचा, "अंग्रेजी राज्य नाश हो–गोरे कुत्ते भाग जाओ।" सुनते ही माधो उठ खड़ा हुआ। अम्मा ने डाँटा, "अरे खाना तो खा ले।"

"नहीं अम्मा तब तक जूलूस चला जाएगा तो।" और हाथ धोकर वह झट बाहर आया।

अम्मा भी पीछे पीछे आई। दूकान पर चढ़ कर देखा—अपार जन-समूह! गाँधी जी के स्वराज्य का सपना सच्चा हो रहा था। अम्मा से चौतरे पर खड़े होकर माधो ने बताया, "आन्दोलन हुआ है माँ, आन्दोलन! अब जल्दी ही स्वराज्य होगा। कांग्रेस का राज होगा, गांधी बाबा राजा होंगे—" गँवार माधो के लिए स्वराज्य की यही रूप रेखा थी।

माँ ने डाँटा, "अरे पहले जुलूस तो देख ले, तू तो बिखान देने लगा रे।"

पर माधो न माना—हाथ ऊँचा कर के वह मां को दिखाता रहा, "वह देखो अम्मा! जुलूस अब आगे नहीं बढ़ेगा। देखो, वह कोतवाल आ गया है। उसने जुलूस रोक दिया है। देखो वह जुलूस के नेता से बातें का रहा है।"

"अच्छा तू चुप रह। मैं सब देख लूँगी।" अम्मा ने कहा।

"नहीं अम्मा, वह देखो बिजली का खम्मा टूट गया है। वह देखो सभी तार कटे हैं। अब कहीं तार नहीं भेजा जा सकता। अम्मा, देखो देखो!!"

और तब तक एक अपूर्व कोलाहल जलूस से उठकर चारों ओर छाने लगा। तीन चार आदमी नीम पर चढ़ कर रस्सी के सहारे खम्मे को हिलाने लगे। क्षण भर में मिलीटरी की दो मोटरें आईं और उनके आगे बढ़ने के पूर्व ही बिजली का वह खम्मा सड़क पर आ गिरा। रास्ता रुक गया। मोटर रुकी। उसपर से लगभग दो दर्जन गोरे सिपाही उतरे और बन्दूक लेकर दौड़ पड़े। फिर जो चहल पहल हुई वह अपूर्व थी। कुछ लोग देखते ही भागने लगे। कुछ जोश में आगे बढ़े, "गांधी जी की जय! इन गोरों को मारो! मारो!!"

"मारो मारो।" सुनकर माधो के हाथ भी हिलने लगे। एक बार उसने अम्मा की ओर देखा फिर जुलूस की भीड़ में कूद पड़ा और आगे बढ़नेवालों के साथ बढ़ चला, "मारो मारो !!"

"अरे माधो तू कहाँ ? माधो, माधो !!"

अम्मा लाख चिल्लाईं पर उस भीड़ में उसकी कौन सुने ? माधो, अम्मा की पुकार न सुनकर बहुत आगे निकल गया था।

माधो के जोश को अम्मा जानती थीं। वह बहुत घबड़ाईं पर उससे क्या होता था ?

वहाँ जोरों की मारपीट मची। माधो ने तो सड़क के किनारे खड़े होकर ढेले बरसाने शुरू किये।

और समूचे भीड़ ने गोरों की बन्दूकों का स्वागत छाती खोलकर किया।

गोली की आवाज से तो आधे तमाशा देखनेवाले भाग गये, पर जिन्हें सचमुच स्वराज्य लेना था वह तो डटे ही रहे। भागने वालों की भीड़ जो भागी तो उसमें अम्मा दौड़ न पाईं। विवश हो उन्हें भीतर हो जाना पड़ा।

फिर तड़ातड़ गोलियां छूटनी शुरू हुईं। एक गोरे के सिर पर जो एक ईंटा लगा तो वह खिसियाकर गोली चलाने लगा और पांच ही मिनट में वहाँ दूसरा ही वातावरण था।

भागने वाले भाग चुके थे। मरनेवाले मर चुके थे।

कुछ बचे थे उन्हें गिरफ्तार किया जा रहा था। चारों ओर मिलेटरी और सिपाही ही दिखाई पड़ रहे थे। बुढ़िया ने सिर निकाल कर झाँका तो एक ने डाँटा, "बुढ़िया अन्दर भाग, गोली लगेगी।"

और बुढ़िया ने सिर भीतर कर लिया।

पर एक घण्टे बाद जब पता लगा कि सात लाशों में से एक माधो की भी है तो बुढ़िया की बेहोशी का ठिकाना न रहा। वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी ! जवान बेटा—इसी साल व्याह करना था। कमाता था—दूकान उसी के सहारे चलती थ.। माँ का वही सहारा था—सब साफ ! केवल एक गोली में सब नष्ट !

सो पाँच साल पहले माधो की अम्मा ने स्वराज्य की यह कीमत दी थी।

अब आज स्वराज्य आ गया था। नेता आ रहे थे। शहर भर में खुश हाल है—उत्सव है। माधो की अम्मा को भी खुशी है, पर जब, जब माधो की याद आ जाती तो उसकी खुशी पर बदली छा जाती है

कि एकाएक मोटरों का आना जाना बन्द हो गया। सड़कपर धीरे धीरे इतनी भीड़ इकट्ठी हो गई जैसे दशहरे के दिन रामदल के समय। माधो का ख्याल एक किनारे हटा वह जल्दी जल्दी पान लगाने लगी। भीड़ का बढ़ती के साथ ही साथ ग्राहकों की भी संख्या बढ़ी। अधन्नों और छेद वाले पैसों से माधो की अम्मा की गुल्लक भरने लगी।

फिर एकाएक भीड़ में सघनता आई। धक्के बढ़े और लोगों ने देखा वह जुलूस आ रहा है। आ भी पहुँचा। आगे आगे तिरंगा, लहराता हुआ। पीछे जनसमूह, "गांधी जी की जय।"

यूसुफ ने दौड़ आकर बताया कि नेता की मोटर यहाँ रुकेगी और माधो की अम्मा को माला पहनाना चाहिए।

पान के डलिए से माला निकाल कर अम्मा ने सामने रखा और आसरा देखने लगी। अजीब उत्साह, अजीब जोश था आज।

और उस तिरंगे के बाद भीड़ जय जयकार करती हुई चल रही थी। उनके पीछे मोटर पर थे नेता। फूलों की मालाओं से लदे हुए, दबे हुए। माधो की अम्मा केवल एक झलक ही देख पाई। झट वह दुकान से नीचे आई और बेतहाशा दौड़ी। नेता के गले में माला डालकर अपने को शान्ति देने के लिए। मन ही मन सोचा—नेता से माधो की बात भी कहूँगी। पर शायद नेता तक पहुँचना उसकी शक्ति के बाहर था।

जब वह बिलकुल पास पहुँच गई तभी एक ऐसा धक्का लगा कि वह सम्हल न पाई। माधो की अम्मा के पाँव डगमगाए। वह गिर पड़ी। फिर, कितने ही पाँव उन पर पड़े। उनकी चिल्लाहट कोई सुन न सका।

नेता आए थे–जनता में उत्साह जो था।

और जिस गति से जुलूस आया था उसी से चला भी गया। सड़क पर टूटे हार और मले-दले फूलों के बीच बेजान माधो की अम्मा पड़ी थीं।

जनता के उत्साह से नेता खुश थे। उनका जुलूस आया, निकल भी गया। बड़े बड़े लाला—महाजनों ने आगे बढ़ कर स्वागत किया। पर माधों की अम्मा! वह थीं, जिन्होंने स्वराज के लिए अपना जवान बेटा दिया था, मगर नेता से न मिल पाईं।

फिर संसार का क्रम अपनी गति से चला। नेता का स्वागत अपूर्व था—अमर हो गया। माधो की अम्मा की दूकान सूनी हो गई। 'जय हिन्द' सिगरेट बिना बिके ही रह गई। मकान मालिक ने दूकान दूसरे को किराये पर दे दी। माधो की अम्मा का नाम मिट गया। पर जुलूस अब भी सबों को याद है। शहर में स्वराज्य से केवल इतना ही अन्तर आया है।